प्रश्नोत्तरी

सन्तवाणी

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

प्रश्नोत्तरी

(सन्तवाणी)

मानव सेवा संघ
के प्रवर्तक सन्त प्रवर
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी
श्री शरणानन्द जी महाराज
से साधकों द्वारा पूछे गये
प्रश्न एवं उनके उत्तर

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

• प्रकाशक :

मानव सेवा संघ
वृन्दावन (मथुरा)
पिन-281121

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

• पंचम संस्करण—2008

• 6000 प्रतियाँ

• मूल्य : Rs 20 [redacted]

• मुद्रक :
पावन प्रिन्टर्स,
मेरठ

प्राक्कथन

सुख-दुःख के द्वन्द्व में फँसे हुए अपने परित्राण के लिए छटपटाते हुए व्यक्ति में जो प्रश्न उठते हैं, वे जीवन्त प्रश्न होते हैं। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए व्यक्ति की व्यथा से द्रवित करुणावान अनुभवी सन्त में सन्मार्ग दिखाने की तत्परता से जो उत्तर प्रकट होते हैं, वे जीवन्त उत्तर होते हैं। ऐसे जीवन्त प्रश्नोत्तरों का संयोग जिज्ञासु जनों के लिए परम हितकारी होता है।

मानव-सेवा-संघ के प्रणेता सन्त, ब्रह्मलीन श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज पर बाल्यकाल में ही घोर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। सचेत मेधावी बालक के मन में प्रश्न उठा—'क्या कोई ऐसा सुख है जिसमें दुःख शामिल न हो?' उत्तर मिला—'हाँ, ऐसा सुख है, और वह साधु-सन्तों को मिला करता है।' 11 वर्ष की उम्र में दोनों आँखों से अन्धे हो जाने वाले बालक ने अपने प्रश्न का उत्तर पाया और उसी क्षण निश्चय कर लिया कि 'मैं साधु हो जाऊँगा।' साधु होकर स्वयं दुःख-रहित आनन्दमय जीवन पाकर परम पूज्य श्रीस्वामी शरणानन्द जी महाराज ने मानव मात्र के लिए दुःख-निवृत्ति, चिर शान्ति, जीवन मुक्ति एवं भगवद्भक्ति सम्बन्धी प्रश्नों के अचूक और अकाट्य उत्तर देकर जिज्ञासुओं की अद्भुत सेवा की है।

मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित जटिल से जटिल प्रश्न भी जब कोई महाराजजी से पूछता था तो वे बिल्कुल सहज भाव से थोड़े शब्दों में ऐसा सटीक उत्तर देते थे कि प्रश्नकर्त्ता की आँखें खुल जातीं और अपनी समस्या का सही एवं नितान्त व्यवहार्य समाधान पाकर वह तत्काल साधन-पथ पर आरूढ़ हो जाता था।

श्रीमहाराज जी द्वारा दिए गए उत्तर प्रश्नकर्त्ता को सीधे स्पर्श करते थे। वह ऐसा अनुभव करता था, मानो श्रीमहाराजजी ने उसमें एक नयी चेतना फूँक दी हो। श्रीमहाराजजी के समाधान कारक उत्तर स्वतः स्फूर्त होने के कारण शास्त्र सम्मत होते थे। साथ ही वे युक्तियुक्त एवं तर्क-संगत

होने के कारण अकाट्य भी होते थे। व्यावहारिक स्तर पर अनुकरणीय होने के कारण जिज्ञासुओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो जाता था।

उपर्युक्त विशेषताओं से आकर्षित होकर मानव-सेवा-संघ के कुछ प्रेमीजनों में प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी के प्रकाशन का संकल्प उठा। थोड़ी बहुत सामग्री जो वर्तमान में जुट सकी, उसे प्रश्नोत्तरी में संकलित किया गया है, इस उद्देश्य से कि उलझे हुए साधकों को अपनी समस्याएँ सुलझाने में समुचित मार्गदर्शन मिल सके। आत्मीय साधक भाई-बहनों को संघ की ओर से सद्भावनापूर्ण यह पुष्प सप्रेम समर्पित है।

प्रेम-निकेतन आश्रम, जयपुर
गीता जयन्ती, 1989

विनीता :
दिव्य ज्योति

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है तथा साधक के विकास का अचूक उपाय है।)

मेरे नाथ ! आप अपनी, सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी कृपा से, दुखी प्राणियों के हृदय में, त्याग का बल, एवम् सुखी प्राणियों के हृदय में, सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो, आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—महाराज जी ! शिक्षक का क्या कर्त्तव्य है ?

उत्तर—शिक्षक का काम है, अपनी योग्यता का सदुपयोग एवं शिक्षार्थी का चरित्र-निर्माण।

प्रश्न—स्वामी जी ! भगवान् हमारी चाह पूरी क्यों नहीं करते ?

उत्तर—चाह तो उन्होंने अपने बाप दशरथ की भी पूरी नहीं की। फिर तुम्हारी कैसे कर दें ? जो सीता ने चाहा, नहीं हुआ। जो कौशल्या ने चाहा, नहीं हुआ। फिर तुम्हारे चाहने से क्या होगा ?

प्रश्न—स्वामी जी ! आपके कथन के अनुसार जब दुःख मानव को कुछ सिखाने के लिए आता है, तो फिर बच्चों के जीवन में दुःख क्यों आता है ?

उत्तर—बच्चे प्राणी हैं। प्राणी के जीवन में तो सुख-दुःख का भोग ही होता है। जब वे मानव बनेंगे, तभी न दुःख उन्हें कुछ सिखाएगा ?

प्रश्न—स्वामी जी ! समाज का दुःख कैसे दूर हो सकता है ?

उत्तर—आप अपना दुःख दूर कर सकते हैं। समाज चाहेगा, तो उसका दुःख दूर होगा। कोई बाप अपने बेटे का, कोई पति अपनी पत्नी का दुःख दूर नहीं कर सकता, तो समाज का कैसे कर लेगा ? हाँ, इतना आप कर सकते हैं कि अपना दुःख-रहित जीवन समाज के सामने रख सकते हैं, जिसको देखकर समाज के मन में दुःख दूर करने की रुचि पैदा हो सकती है।

प्रश्न—महाराज जी ! सृष्टि की सेवा करने वाला प्रभु को कैसे प्यारा लगता है ?

उत्तर—जैसे तुम्हारे लड़के की सेवा करने वाला तुम्हें प्यारा लगता है।

प्रश्न—स्वामी जी! भगवान् का दर्शन कैसे हो सकता है?

उत्तर—भगवत्-प्रेम का महत्त्व है, भगवत्-दर्शन का कोई महत्त्व नहीं। भगवान् रोज दिखें और प्यारे न लगें, तो तुम्हारा विकास नहीं होगा। भगवत्-विश्वास, भगवत्-सम्बन्ध और भगवत्-प्रेम का महत्त्व है।

प्रश्न—स्वाधीनता का स्वरूप क्या है?

उत्तर—स्वाधीनता का अर्थ है, अपने में सन्तुष्ट होना, न कि किसी वस्तु या परिस्थिति में आबद्ध होना।

प्रश्न—महाराज जी! ईसाई लोग ईसा की बात क्यों नहीं मानते हैं?

उत्तर—नकली ईसाई ईसा की चर्चा करेगा और सही ईसाई ईसा की बात मानेगा। यह बात न सिर्फ ईसाईयों के लिए सत्य है; बल्कि हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, जैन और बौद्ध आदि सभी के लिए सत्य है।

प्रश्न—महाराज जी! भौतिक उन्नति का साधन क्या है?

उत्तर—योग्यता, परिश्रम, ईमानदारी और उदारता।

प्रश्न—महाराज जी! जीवनमुक्त कौन है?

उत्तर—जो ईमानदार है, और ईमानदार वही है जो संसार की किसी भी चीज को अपनी नहीं मानता।

प्रश्न—जीवनमुक्ति का स्वरूप क्या है?

उत्तर—इच्छाएँ रहते हुए प्राण चले जाएँ तो मृत्यु हो गई। फिर जन्म लेना पड़ेगा और प्राण रहते इच्छाएँ समाप्त हो जाएँ, तो मुक्ति हो गई। जैसे बाजार गए, पर पैसे समाप्त हो गए और जरूरत बनी रही, तो फिर बाजार जाना पड़ेगा। और यदि पैसे रहते जरूरत समाप्त हो जाए, तो बाजार काहे को जाना पड़ेगा?

प्रश्न—पढ़ाई-लिखाई बढ़ रही है, फिर भी दोष कम क्यों नहीं हो रहे?

उत्तर—कोई दोष तब करता है, जब अपनी ही बात नहीं मानता। पढ़ाई-लिखाई तो एक प्रकार की योग्यता है। योग्यता जब निज विवेक के अधीन नहीं रहती है, तो बड़े-बड़े अनर्थ कर डालती है।

प्रश्न—महाराज जी! क्या भगवत्-प्रेम भी कामी और कामिनी वाले प्रेम की तरह होता है?

उत्तर—कामी कामिनी को प्रेम नहीं करता। वे एक-दूसरे को नष्ट करते हैं, खा जाते हैं। भगवत्-प्रेम तो प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों को आह्लादित करता है।

प्रश्न—दुःख का आना मानव के पतित अथवा पापी होने का परिचय है क्या?

उत्तर—दुःख का आना पतित होने का फल नहीं है। दुःख तो सुख-भोग की आसक्ति को मिटाने के लिए आता है।

प्रश्न—महाराज जी! धर्मात्मा कौन होता है?

उत्तर—जिसकी समाज को आवश्यकता हो जाए।

प्रश्न—व्यर्थ-चिन्तन से कैसे बचा जाए?

उत्तर—व्यर्थ-चिन्तन भुक्त-अभुक्त का प्रभाव है। आप उससे असहयोग करें। न उसे दबाएं, न उससे सुख लें, न भयभीत हों और न तादात्म्य रखें। तो व्यर्थ-चिन्तन प्रकट होकर नाश हो जाएगा।

प्रश्न—स्वामी जी! हम क्या करें?

उत्तर—सेवा, त्याग और आस्था। सेवा का अर्थ है उदारता, सुखियों को देखकर प्रसन्न होना और दुखियों को देखकर करुणित होना। त्याग का अर्थ है कि मिला हुआ अपना नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उसकी कामना का त्याग। प्राप्त में ममता नहीं और अप्राप्त की कामना नहीं। प्रभु में आस्था और विश्वास करो।

सेवा, आदमी को समाज के लिए, त्याग अपने लिए और आस्था प्रभु के लिए उपयोगी बनाती है।

प्रश्न—स्वामी जी! आज तक तो मेरी आँखें बिल्कुल ठीक रही हैं। परन्तु अब 75 वर्ष के बाद रोशनी कम होने पर अभाव खटकने लगता है।

उत्तर—आँख तो भैया पहले भी अपनी नहीं थीं। परन्तु इसका पता अभी चला है। गहरी नींद में हर रोज आँखों के रहते हुए भी अन्धे हो जाते हैं। इस पर विचार ही नहीं किया।

प्रश्न—क्या संकल्प-पूर्ति का कोई स्थान जीवन में है?

उत्तर—दूसरों की संकल्प-पूर्ति का है, अपनी संकल्प-पूर्ति का नहीं।

प्रश्न—भक्ति कैसे हो?

उत्तर—संसार को अपने लिए अस्वीकार करने और केवल भगवान् को ही अपना मानने से भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न—स्वप्न का क्या कोई अस्तित्व है?

उत्तर—स्वप्न तो एक अवस्था है। अवस्था का कोई अस्तित्व नहीं होता।

प्रश्न—दुःख विधान का फल है क्या?

उत्तर—दुःख तो सुख की दासता मिटाने के लिए विधान से आता है। दुःख हमारी भूल का परिणाम है।

प्रश्न—दुःखी होना और करुणित होना एक बात है क्या?

उत्तर—नहीं, दुःख में जड़ता आती है। करुणा में चेतना आती है, संसार से सम्बन्ध टूटता है।

प्रश्न—शारीरिक रोग आने पर दुःख क्यों होता है?

उत्तर—'मैं शरीर हूँ' या 'शरीर मेरा है'-ऐसा समझने से दुःख होता है।

प्रश्न—रोगी को दुःख न सताए, इसके लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर—रोग प्राकृतिक तप है, ऐसा मान कर उसे हर्षपूर्वक सहन कर लेना चाहिए।

प्रश्न—रोगी व्यक्ति को रोगावस्था में क्या करना चाहिए?

उत्तर—प्रत्येक अवस्था में प्रभु की अहैतुकी कृपा का अनुभव होता रहे और हृदय उनकी प्रीति से भरा रहे। शरीर के रहने, न रहने से साधकों को कोई लाभ-हानि नहीं होती। शरीर को बनाए रखने की कामना का त्याग आवश्यक है।

प्रश्न—दुःख क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर—सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है, ऐसा नियम ही है। सुख-भोग की रुचि के नाश के लिए रोग आता है।

प्रश्न—बीमारी से क्यों डर लगता है?

उत्तर—रोग शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिए आता है। उससे साधकों को डरना नहीं चाहिए, अपितु उसका सदुपयोग करना चाहिए।

प्रश्न—रोग का सदुपयोग क्या है?

उत्तर—दुःख का प्रभाव होना चाहिए। रोग देह की वास्तविकता का अनुभव करा देता है। शरीर से व्यक्ति को असंग करने में रोग सहायता देता है।

प्रश्न—रोग का निदान या दवा क्या है?

उत्तर—शरीर के राग से निवृत्त होना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य का यथा-शक्ति ध्यान रख कर, शरीर की सेवा करनी चाहिए—ऐसा करने से शरीर के रोग का अन्त हो जाता है। शरीर सेवा-सामग्री है। साधक की प्रार्थना होनी चाहिए—"हे प्रभु! यह शरीर विश्व के काम आ जाए, अहम् अभिमान-शून्य हो जाए एवं हृदय प्रेम से भर जाए।"

प्रश्न—सच्चा सुख मनुष्य को कब और कैसे मिल सकता है?

उत्तर—वास्तव में मानव-जीवन की यही सबसे बड़ी समस्या है। इसके हल करने में प्राणी सदा स्वतन्त्र है। इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार न करना बड़ी भारी भूल है।

मानवता प्राप्त होने पर मनुष्य को वह सुख मिल जाता है जिसमें दुःख नहीं होता अर्थात् सच्चा सुख मिल जाता है।

सहज भाव से मूक भाषा में प्रेम पात्र से प्रार्थना करो—"हे नाथ! इस हृदय को अपनी प्रीति से भर दो। इस शरीर को दुखियों की सेवा में लगा दो। बुद्धि को विवेकवती बना दो। इस जगत् रूपी वाटिका में मुझे एक सुन्दर पुष्प बना दो। मैं सदा आपकी कृपा की प्रतीक्षा में रहूँ।" ऐसी प्रार्थना करने से प्रेम-पात्र तुम्हें अपनी सेवा करने के योग्य अवश्य बना लेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रश्न—शारीरिक कष्टों को कैसे भूला जाए?

उत्तर—भूला न जाए, सहा जाए-चिंता, विलाप से रहित होकर। यह तप है। तप से शक्ति बढ़ती है। भूलने से तो जड़ता आवेगी। शरीर से तितिक्षा होनी चाहिए। तितिक्षा का अर्थ है, हर्षपूर्वक कष्ट को सहन करना।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ की पहली प्रार्थना में यह कहा जाता है कि दुखियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करें। दुःखी बेचारा क्या त्याग करेगा?

उत्तर—जब मनुष्य कुछ चाहता है और उसका चाहा हुआ नहीं होता है, तो वह दुःख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख का कारण 'चाह' है। अतः अगर दुखी दुःख से छुट्टी पाना चाहता है, तो उसे चाह का त्याग कर देना चाहिए। चाह का त्याग करने में मानव मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न—आसक्ति-रहित होकर कार्य करने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—जिस कार्य को करने में अपना सुख निहित नहीं होता, जो सर्वहितकारी दृष्टि से किया जाता है, वह आसक्ति-रहित कार्य कहलाता है।

प्रश्न—हम दूसरों के दोष क्यों देखते हैं?

उत्तर—क्योंकि हम अपने दोषों को नहीं देखते।

प्रश्न—पूजा का क्या अर्थ है?

उत्तर—संसार को भगवान् का मानकर उन्हीं की प्रसन्नतार्थ संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार की सेवा में लगा देना ही पूजा है।

प्रश्न—स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना का क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रभु के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार करना ही स्तुति है। प्रभु से अपनत्व का सम्बन्ध स्वीकार करना उपासना है और प्रभु-प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना प्रार्थना है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति में विघ्न क्या है?

उत्तर—संसार को पसन्द करना ही सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न—दुःख क्यों होता है?

उत्तर—सुख-भोग से ही दुःख रूप वृक्ष उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जिसका जन्म सुख-भोग से न हुआ हो।

प्रश्न—दुःख और सुख का परिणाम क्या है?

उत्तर—जो सुख किसी का दुःख बनकर मिलता है वह मिट कर कभी न कभी बहुत बड़ा दुःख हो जाता है और जो दुःख किसी का सुख बन कर मिलता है वह मिट कर कभी न कभी आनन्द प्रदान करता है। प्राणी सुख से बँधता और दुःख से छूट जाता है। सुख से दुःख और दुःख से आनन्द मिलता है।

प्रश्न—त्याग क्या है?

उत्तर—संसार की अनुकूलता व प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है। क्योंकि अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से

द्वेष का जन्म होता है। राग-द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है। जिस प्रकार लड़की पिता के घर कन्या, ससुराल में बहू और पुत्रवती होने पर माता कहलाती है, उसी प्रकार त्याग ही प्रेम और प्रेम ही ज्ञान कहलाता है। त्याग होने पर आस्तिकता आ जाती है, तब त्याग प्रेम में बदल जाता है और आस्तिकता का यथार्थ अनुभव होने पर प्रेम ही ज्ञान में बदल जाता है।

प्रश्न—कर्म से स्थाई प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती है?

उत्तर—कर्म, शरीर, व संसार-इन तीनों का स्वरूप एक ही है। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उससे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। स्वतन्त्रता के बिना प्रसन्नता कहाँ? अतः कर्मादि से प्रसन्नता नहीं मिल सकती।

प्रश्न—कर्म किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर—कर्म विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिए। ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भोगों का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप होता है। फिर कर्म करने में रुचि नहीं रहती। करने के राग की निवृत्ति हो जाती है और योग प्राप्त होता है।

प्रश्न—मनुष्य को शान्ति क्यों नहीं मिलती?

उत्तर—कामना पूरी करने के लिए कर्म करने से शान्ति नहीं मिलती। साधक यदि चित्त-शुद्धि का प्रयत्न करे, तो शान्ति अपने आप आ जाती है।

प्रश्न—भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, यह कैसे मालूम हो?

उत्तर—भगवान् पर विश्वास हो और उनसे हमारा सम्बन्ध हो, तब मालूम हो सकता है। जैसे माता अपने बच्चे के लिए तरसती है, वैसे ही भगवान् अपने भक्त के लिए तरसते हैं। बच्चा काला-कलूटा, गूँगा-बहरा, लूला-लँगड़ा कैसा भी हो, माता उससे प्रेम करती है। बच्चा भी यह बात

समझता है। भगवान् में तो माता से अनेक गुना वात्सल्य है। फिर वे भक्त से प्रेम करें, इसमें कहना ही क्या? अत: जो एकमात्र भगवान् को ही मानते हैं, उनको भगवान् का प्रेम मिलता है। इसमें सन्देह नहीं है। यह भक्तों का अनुभव है। ईश्वर प्रेमीभक्त को ढूँढ़ता है। विचारशील साधक ईश्वर को ढूँढ़ता है।

प्रश्न—अपने दोष कैसे देखें और उनको कैसे मिटाएँ?

उत्तर—गुण और दोषों को देखने की शक्ति प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है। जिस योग्यता से हम दूसरों के दोषों को देखते हैं, उसी योग्यता से अपने दोषों को देखें। अपने दोषों को ठीक-ठीक देख लेने पर गहरा दु:ख होता है। गहरा दु:ख होने से दोष दूर हो जाते हैं। दूसरों के दोष और अपने गुण देखने से मनुष्य का विकास रुक जाता है और अभिमान पुष्ट होता है।

प्रश्न—माँग कैसे पूरी हो सकती है?

उत्तर—माँग तीन प्रकार से होती है। कामना को लेकर, लालसा को लेकर तथा जिज्ञासा को लेकर। भोगों की कामना, सत्य की जिज्ञासा और प्रभु-प्रेम की लालसा। जिज्ञासा कहते हैं जानने की इच्छा को। लालसा कहते हैं प्रभु पाने की इच्छा को और कामना कहते हैं भोगों की इच्छा को। जिसमें भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा-ये तीनों बातें होती हैं, उसे "मैं" कहते हैं। कामना भूल से उत्पन्न होती है, उसकी निवृत्ति हो सकती है। जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। फिर प्रभु की प्राप्ति हो जाती है। अत: कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को हो सकती है।

प्रश्न—दु:ख की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर—वासनाओं की निवृत्ति होने से दु:खों की निवृत्ति होती है। जब साधक विवेक का आदर करके यह समझ लेता है कि "मैं शरीर नहीं

हूँ", तब वासनाओं और संकल्पों का अभाव हो जाता है। इसके होते ही दु:ख मिट जाते हैं। इन्द्रियों और मन के क्रिया-रहित हो जाने पर वासनाओं का अन्त अपने आप हो जाता है।

प्रश्न—मुझे क्या करना चाहिए?

उत्तर—यदि बिना किए रह सको, तो कुछ भी नहीं करना चाहिए। बिना किए न रह सको, तो सब कुछ करना चाहिए। भोगों के बाद शोक की प्राप्ति निश्चित है। प्रत्येक कर्म के दो फल होते हैं। एक दृश्य जो अपने आप मिट जाता है। दूसरा अदृश्य जो फल की कामना न होने पर मिट जाता है। अत: जो कुछ करो, चाह-रहित, चिन्तन-रहित और फल की आशा से रहित होकर करो। जिस साधन से प्रभु से सम्बन्ध जुड़े वही करना चाहिए। अत: करना हो तो सेवा करो अथवा त्याग करो।

प्रश्न—कभी तो ऐसा मालूम होता है कि हृदय में प्रेम है और कभी ऐसा मालूम होता है कि हृदय सूना-सा है, प्रेम नहीं है। यह क्या है?

उत्तर—आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य संसार पर जितना भरोसा करता है, उतना भगवान् पर नहीं करता। संसार पर भरोसा करके बहुत बार धोखा खाया है। भगवान् पर भरोसा करने वाले को कभी धोखा नहीं हुआ।

मनुष्य स्वयं अलग रह कर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को भगवान् में लगाना चाहता है। भूल यहीं से होती है। प्रेम का सम्बन्ध साधक से है। उसकी बुद्धि, मन व इन्द्रियों से नहीं है।

परम प्रियतम प्रभु को ही अपना मानें, उसी पर विश्वास करें और उसी से प्रेम करें। मनुष्य अनित्य वस्तुओं से सुख की आशा करके उनमें आसक्त हो गया है। इससे ही वह ईश्वर-प्रेम से विमुख हो गया है।

प्रश्न—विवेक और बुद्धि में क्या अन्तर है?

उत्तर—विवेक प्रकाश है, बुद्धि दृष्टि है। जैसे दृष्टि प्रकाश में काम करती है, वैसे ही बुद्धि विवेक के प्रकाश में काम करती है। विवेक का आदर करने से बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि की बड़ी महिमा है।

प्रश्न—जिज्ञासा तीव्र क्यों नहीं होती?

उत्तर—क्योंकि सन्देह की वेदना निर्जीव है।

प्रश्न—कैसे समझें कि ममता का नाश हो गया?

उत्तर—पेट भरने पर क्या आपने परोसने वाले से पूछा कि मेरा पेट भरा या नहीं? ममता का त्याग होने पर आपको स्वत: विदित हो जाएगा।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ के दर्शन में सेवा, त्याग और प्रेम की बात कही जाती है। इनमें से किसी एक को लेकर चला जाए या तीनों को?

उत्तर—हर मानव को तीन शक्तियाँ विधान से मिली हैं—

1. करने की शक्ति (कर्त्तव्य-पथ)
2. जानने की शक्ति (ज्ञान-पथ)
3. मानने की शक्ति (विश्वास-पथ)

इन तीनों शक्तियों में से किसी एक शक्ति की प्रधानता होती है। अत: साधक में जिस शक्ति की प्रधानता हो, उसी को लेकर चलना चाहिए। शेष दो शक्तियों का विकास और सदुपयोग अपने आप हो जाएगा। साधक चाहे तो तीनों को साथ-साथ लेकर भी चल सकता है।

प्रश्न—यह जानते हुए भी कि ममता और कामना जीवन में नहीं रखनी चाहिए, जब हमारे ऊपर कोई दु:ख आता है तो दु:खी होकर विचलित हो जाते हैं। इससे छुटकारा पाने का उपाय क्या है?

उत्तर—जिन वस्तुओं और व्यक्तियों द्वारा हम सुख भोगने की आशा करते हैं, उनके वियोग से अवश्य ही दु:खी होना पड़ेगा। अत: यदि हम

चाहें कि दुःख से छुटकारा मिले, तो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्था से हमें सुख भोगना अथवा सुख की आशा करना छोड़ देना चाहिए। तब जीवन से दुःख अवश्य ही चला जाएगा।

प्रश्न—बेईमान दुनियाँ में ईमानदार आदमी कैसे जिए?

उत्तर—बेईमानी का कारण लोभ है। निर्लोभता में दरिद्रता का नाश है।

प्रश्न—महाराज जी! सत्य की प्राप्ति में कितना समय लगता है?

उत्तर—जिसकी जितनी तीव्र जिज्ञासा होती है, उसे उतना ही कम समय लगता है। जब आप सत्य के बिना चैन से न रहेंगे, वह उसी समय मिल जाएगा।

प्रश्न—स्वामी जी, यदि घर की प्रतिकूलता के कारण साधन न हो सके, तो क्या साधक को घर छोड़ देना चाहिए?

उत्तर—सच्चा मानव-सेवा-संघी कभी घर नहीं छोड़ता, बल्कि ममता, कामना और अपना अधिकार छोड़ता है।

प्रश्न—महाराज जी, क्या मैं घरबार छोड़कर आश्रम में रह सकता हूँ?

उत्तर—मानव-सेवा-संघ किसी का घर बर्बाद करके आश्रम को आबाद नहीं करना चाहता। परन्तु यदि आपका परिवार आप पर निर्भर न हो और घर में आप सुख-दुःख का सदुपयोग न कर सकें, तो आ जाएं।

प्रश्न—महाराज जी! धन का अभाव क्यों सताता है?

उत्तर—तुम धन को अधिक महत्त्व देते हो।

प्रश्न—महाराज जी! जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ, तो कभी तो खूब शान्ति रहती है और कभी ऐसा लगता है कि क्रिया-शक्ति का वेग अभी बाकी है।

उत्तर—करने का राग अभी निवृत्त नहीं हुआ।

प्रश्न—स्वामी जी ! साधन में सफलता नहीं मिल रही है।

उत्तर—अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप साधन-निर्माण नहीं किया।

प्रश्न—स्वामी जी ! भगवान् छिपा क्यों रहता है ?

उत्तर—भगवान् के प्रति आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता और प्रियता जाग्रत नहीं हुई।

प्रश्न—स्वामी जी, मन में बहुत विकार पैदा होते रहते हैं, क्या करूँ ?

उत्तर—गहरी वेदना होनी चाहिए।

प्रश्न—स्वामी जी ! होली का क्या महत्त्व है ?

उत्तर—राग-द्वेष को अग्नि में जला दो, देहाभिमान को मिट्टी में मिला दो और प्रेम के रंग में रँग जाओ।

प्रश्न—क्या व्यक्तिगत सम्पत्ति होनी चाहिए ?

उत्तर—व्यक्तिगत सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिए, परन्तु उसे अपनी और अपने लिए नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न—स्वामी जी ! बोध किसे कहते हैं ?

उत्तर—सभी के मूल में एक अनुत्पन्न नित्य तत्त्व है। उसी की स्वतन्त्र सत्ता है। इसका ज्ञान होना ही बोध है।

प्रश्न—स्वामी जी ! समाज के संघर्ष का क्या कारण है ?

उत्तर—हम दूसरों को क्षति पहुँचाकर जीना चाहते हैं। यही कारण है समाज में संघर्ष का।

प्रश्न—महाराज जी ! मोह को बड़ा बलवान कहा जाता है, क्यों ?

उत्तर—देखो ! मायिक पदार्थ और ऐहिक सुख-यह सब नाशवान है। इनमें ममता करना तथा इनकी कामना करना—यह मनुष्य की भूल ही

है। इनका वियोग तो एक दिन होगा ही। अगर इनमें ममता होगी, तो इनके वियोग-काल में दु:ख ही होगा। इसलिए इनको दु:ख रूप भी कहा है। अत: इन नाशवान और दु:खरूप पदार्थों के लिए अपना परलोक बिगाड़ देना बड़ी भारी भूल है।

सच्चा बुद्धिमान तो वही है, जिसने सुख-भोग की आसक्ति को त्याग कर भगवान् में आत्मीयता करके शरणागत होकर अपना लोक व परलोक बना लिया एवं अपना कल्याण कर लिया। भोगों की आसक्ति त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण करो। यही कल्याण का सही व सच्चा मार्ग है। इसी में मानव-जीवन की सफलता व सार्थकता है।

प्रश्न—पता चलता है कि संसार है और आगे भी रहेगा। क्या यह सत्य है?

उत्तर—यह जो मानते हो संसार है, यह गलत है। जो दिख रहा है उसकी स्थिति नहीं है। उसे क्यों मानते हो?

प्रश्न—मार खाना भी उदारता है क्या?

उत्तर—कमजोर हमेशा पिटता रहता है। उदारता आत्मीय सम्बन्ध से होती है। उदारता माने, विश्व-जीवन से एकता। बलवान बनिए। करुणित होइए।

प्रश्न—हनुमान जी के चित्र में हृदय में रामजी की फोटो बनी है। क्या यह सही है?

उत्तर—अरे! भाव पर फोटो बनी है, चित्र में नहीं।

दिल का हुजरा साफ कर, आने वाले के लिए।
ख्याल गैरों का उठा, उसके बैठाने के लिए॥

पहले दिल की सफाई करनी है?

प्रश्न—प्राण क्या है?

उत्तर—प्राण कहते हैं, जिससे शरीर काम करे। प्राण जीवनी-शक्ति है।

प्रश्न—स्वामी जी! साधन करने में स्वस्थ शरीर की भी जरूरत है क्या?

उत्तर—साधन में वास्तव में तो स्वस्थ शरीर की जरूरत नहीं है। शरीर का स्वस्थ अथवा रोगी रहना, यह तो एक परिस्थिति है। परिस्थिति चाहे कैसी भी हो, साधन-सामग्री से भिन्न कुछ है ही नहीं। शरीर चाहे स्वस्थ रहे, अथवा रोगी। साधक इसे महत्त्व न दें। फिर भी यदि शरीर स्वस्थ रहे, तो अच्छी बात है। साधन का निर्माण तो सत्संग से होता है। सत्संग स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं। उसमें तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष जगत् की तरह भगवत् सत्ता पर किस प्रकार विश्वास हो? इसका कोई सुगम उपाय बताने की कृपा करें।

उत्तर—इन्द्रियों के ज्ञान में सद्भाव एवं विषयों की वासना तथा शरीर में अहं-बुद्धि, इन तीनों कारणों से जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। इन तीनों कारणों के मिट जाने पर भगवत् सत्ता पर विश्वास हो जाता है।

प्रश्न—मुझे साधन करते हुए एक अर्सा हो गया, किन्तु अभी तक सफलता के दर्शन नहीं हुए, क्या कारण है?

उत्तर—जो मनुष्य असाधन को बनाए रखकर साधन करते हैं, उनको बहुत दिनों तक साधन करने पर भी वर्तमान में सिद्धि नहीं मिल सकती।

जो मनुष्य वस्तु और व्यक्ति का आश्रय लेकर साधन करना चाहते हैं, उनको भी सफलता नहीं मिलती। इसलिए भगवान् का आश्रय लेकर साधन करो, सफलता अवश्य मिलेगी।

जो साधक देशकाल, परिस्थिति, वस्तु व व्यक्ति का आश्रय छोड़ कर साधन करता है, उसको शीघ्र सफलता मिलती है।

'स्व' में सन्तुष्ट रहो, मानवता को महत्त्व दो और प्रभु पर विश्वास करो—यही साधन है और इसी का नाम जीवन है। जिसके जीवन में ये बातें आ जाती हैं, उसको सफलता अवश्य मिलती है।

प्रश्न—स्वामी जी! वैराग्य का क्या स्वरूप है और वह कैसे होता है?

उत्तर—देखो, मनुष्य को जब वैराग्य होता है, तब सत्य की खोज के अलावा और कोई बात उसे नहीं सूझती। वह तो सब कुछ त्याग करके तत्परता से सत्य की खोज में लग जाता है। वह किसी की कुछ परवाह नहीं करता। वह अपने शारीरिक सुखों का त्याग कर देता है। जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह किसी भी हालत में चैन से नहीं रहता। जब मनुष्य संसार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है, उससे मिलने वाले सुखों को ठुकरा देता है तथा सब का परित्याग करके सत्य की खोज के लिए निकल पड़ता है, तब संसार के प्रति उसका कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है।

अब प्रश्न यह है कि वैराग्य की प्राप्ति कैसे हो? जब तक जीवन में राग है, तब तक वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैराग्य की प्राप्ति का अचूक साधन तो अपने विवेक का आदर करना है।

प्रश्न—शिवलिंग की पूजा क्यों की जाती है?

उत्तर—लिंग की नहीं, शिव की पूजा की जाती है। जिसकी स्वयं की कोई आकृति नहीं होती, उसमें प्रतीक की स्थापना की जाती है। "मैं" भी तो एक लिंग है। अपने में ही निराकार की स्थापना कर लो। मनुष्य तीन गुणों से बना है। कोई सत् प्रधान है, कोई रज प्रधान, तो कोई तम प्रधान है। भगवान् राम में राजसी स्वभाव है। श्रीकृष्ण में अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य है। श्रीशिव वैराग्य प्रधान हैं, आशुतोष हैं, विचारक और गुणातीत हैं।

प्रश्न—'स्वधर्म' का मतलब क्या है?

उत्तर—'स्वधर्म' सर्वश्रेष्ठ है। स्वधर्म पालन से व्यक्ति साधन-निष्ठ हो जाता है। ज्ञानपूर्वक अनुभव करें कि सृष्टि में मेरा कुछ नहीं है। सृष्टि से सम्बन्ध तोड़ने की प्रेरणा और परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा 'स्वधर्म' देता है। 'स्वधर्म' का मतलब है, 'स्व' का धर्म। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि सर्व धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आजा।

प्रश्न—आज कल आदमी धर्म पर क्यों नहीं चलते?

उत्तर—भोग में रुचि रखते हैं, योग में नहीं।

प्रश्न—आत्मा क्या है?

उत्तर—अपने को जो अनुभव करे वह है आत्मा। आत्मा में जो बैठा हुआ है वह है परमात्मा। जो देखा जाए, वह है अनात्मा। जो माना जाए वह है परमात्मा। अतः जो अनात्मा से भिन्न है, वह है आत्मा।

प्रश्न—निश्चिंतता कैसे आती है?

उत्तर—(१) सभी को परमात्मा को सौंपने से,

(२) सभी के प्रति सद्भाव रखने से,

(३) अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने प्रियतम को अपने में स्वीकार करने से निश्चिन्तता आ जाएगी।

प्रश्न—जीवन की पूर्णता से आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ज्ञान के प्रकाश से स्वाधीन व अमर होते हैं। प्रेम के रस से नीरसता का अभाव हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश व प्रेम के रस से जीवन पूर्ण होता है।

प्रश्न—विश्वास कैसा होना चाहिए और वह कैसे हो?

उत्तर—हमने साधारण तौर पर यह सुन रखा है कि विष खाने से आदमी मर जाता है। इतनी सी बात पर यह दृढ़ विश्वास हो गया कि किसी भी स्थिति में विष नहीं खाना है।

कोई अत्यन्त लोभी हो, दरिद्र हो, दर-दर भटकता फिरता हो उसे भी यदि कहा जाए कि तुमको एक हजार रुपया देंगे, तुम एक तोला विष खा लो। तो भी वह मनुष्य विष खाना स्वीकार नहीं करेगा। कारण स्पष्ट है कि उसे विश्वास है कि विषपान से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

विषयों के लिए सारे शास्त्र व सन्त कहते हैं कि यह महान विष है। इसका सेवन करने से मनुष्य बार-बार जन्मता, मरता है। विष को खाने से तो एक बार ही मृत्यु होती है, परन्तु विषयों के भोगने वाले को अनेकों बार मरना पड़ता है। विष को खाकर तो मनुष्य बच भी सकता है, परन्तु भोगी को तो लाख-चौरासी में जाना ही पड़ेगा। इस बात को हमने ग्रन्थों में पढ़ा है, सन्तों के मुख से बार-बार सुना है और आँखों से भी देखा है कि विषयी पुरुष की क्या दुर्दशा हो जाती है। फिर भी मन भोगों से नहीं हटता। तो बताओ, इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी?

भगवान् का स्मरण करने से जीव का कल्याण होता है। यह बात भी हम अच्छी तरह से जानते हैं। फिर भी मन भगवान् में नहीं लगता, तो इससे बढ़कर और नास्तिकता क्या होगी? आश्चर्य इस बात का है कि हम महामूर्ख व नास्तिक होकर भी स्वयं को आस्तिक व बुद्धिमान मानते हैं।

प्रश्न—महाराज जी! इच्छाएँ कैसे मरें?

उत्तर—आपकी इच्छाएँ अपने सुख को लेकर न उठें, पर-पीड़ा को लेकर उठें। "हे भगवान्! तुमने मुझे आँखें दी हैं, मैं अन्धे के काम आ जाऊँ। हे भगवान्! तुमने मुझे बल दिया है, मैं निर्बल के काम आ जाऊँ।"

आप इच्छाओं का रुख बदल दीजिए, इच्छाएँ मिट जाएंगी। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि आपको जो कुछ मिलता है, आप उसी से सुख लेना चाहते हैं। आप समाज व परिवार को कुछ देना नहीं चाहते, उनसे सुख की अपेक्षा करते हैं।

इच्छा यह उठे कि मैं दूसरों के काम आ जाऊँ। जब आपकी यह माँग सबल हो जाएगी, इच्छायें मिट जाएँगी। भगवान् ने आपको इतना सुन्दर बनाया है कि आप चाहो, तो सारे संसार के काम आ जाओगे।

आप कहें कि कैसे काम आ जाएँ? मानव-सेवा-संघ कहता है कि मन, वाणी व कर्म से बुराई-रहित हो जाओ, तो संसार के काम आ जाओगे। बुराई मत करो, भलाई करो या न करो।

यदि अपनी ओर से पूरा प्रयास करने पर भी हम सुख के भोग और उसके आकर्षण को छोड़ने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं, तो सरल विश्वास पूर्वक दुखी हृदय से सर्व समर्थ प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। दुःख अवश्य मिट जाएगा।

प्रश्न—मूक-सत्संग क्या है?

उत्तर—'जाग्रत-सुषुप्ति'। मूक होकर चिंतन-अचिन्तन से असहयोग करना है। द्वेष करना नहीं है, बल्कि उनकी सत्ता को अस्वीकार करना है। यह शरीर धर्म नहीं, अपितु स्वधर्म है। असहयोग करने से वे सर्वथा मिट जावेंगे और फिर अचाह, असंगता और प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने की सामर्थ्य आ जावेगी। करने, पाने और जीने की आशा को त्याग कर शान्त होना ही मूक-सत्संग है।

प्रश्न—मानव का पुरुषार्थ क्या है?

उत्तर—सत् के संग को सुरक्षित रखना। हर काम के आदि व अन्त में स्वभाव से ही सत्य का संग है। उस संग को हम पसन्द करें और सुरक्षित रखें। यही मानव का पुरुषार्थ है, जिसके करने में मानव मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न—मानव का सबसे काला समय कौन-सा है?

उत्तर—मानव का सबसे काला समय है—

(1) कि वह जीना चाहे, पर मरना पड़े।

(2) कि वह खाना चाहे, पर खाने की शक्ति न रह जाए।

(3) कि वह बोलना चाहे, पर बोल न सके।

(4) कि वह सुनना चाहे, पर सुन न सके।

(5) कि वह सत्संग से विमुख रहे।

प्रश्न—स्वामी जी! सब शास्त्र और उपदेशों का सार समझाने की कृपा करें।

उत्तर—सभी शास्त्रों व उपदेशों का सार है—भगवान् का भजन, और भजन बनता है, जीवन में सेवा, त्याग और प्रेम आने से। यदि मनुष्य के जीवन में सेवा, त्याग और प्रेम आ गया, तो समझ लो कि उसने सब शास्त्रों का सार समझ लिया। यदि मनुष्य के जीवन में सेवा, त्याग और प्रेम नहीं आया, तो उसने सब कुछ जान कर भी कुछ नहीं जाना। कारण कि, सेवा, त्याग व प्रेम का आ जाना ही सच्चा भजन है।

देखो! जप, तप, कथा, कीर्तन आदि जो मुक्ति की प्राप्ति के साधन बताए हैं, भोगी मनुष्य के लिए ये सब जीविका के ही साधन बन जाते हैं। कोई मनुष्य बहुत जप-तप करके आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त कर ले, पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त कर ले, मुर्दे को जीवित और जीवित को शाप देकर भस्म करने की शक्ति भी प्राप्त कर ले। परन्तु निर्दोष, निष्काम, असंग और शरणागत हुए बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। इसकी प्राप्ति में किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—ध्यान किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—ध्येय के ज्ञान के बिना किसी प्रकार का ध्यान नहीं हो सकता। क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता, उसका ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञान से संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार ज्ञान होने पर ध्यान स्वतः हो जाता है।

प्रश्न—त्याग व कर्म क्या है?

उत्तर—त्याग संसार के चढ़ाव की ओर ले जाता है और कर्म संसार के बहाव की ओर ले जाता है। जिस प्रकार नदी के चढ़ाव की ओर चलने

वाला नदी का अन्त करके नदी के उद्‌गम को जान लेता है, उसी प्रकार त्याग करने वाला संसार के कारण को जान लेता है। जिस प्रकार नदी के बहाव की ओर जाने वाला महासागर में डूब कर बार-बार उसी पानी में चक्कर लगाता है, उसी प्रकार कर्म करने वाला घोर संसार में चक्कर लगाता है, परन्तु संसार के कारण को नहीं जान पाता।

प्रश्न—राग मिटाने पर वैराग्य कैसे मिट जाता है?

उत्तर—वैराग्य अग्नि के समान है। लकड़ी का अभाव होने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार राग का अभाव होने पर वैराग्य अनुराग में बदल जाता है।

प्रश्न—राग क्यों होता है?

उत्तर—सुख से राग का जन्म होता है। यदि विषयों में सुख न मालूम पड़े, तो राग नहीं हो सकता। अपने को शरीर समझने पर इन्द्रिय-ज्ञान में सद्‌भाव और इन्द्रिय-ज्ञान में सद्‌भाव से अविचार, अविचार से विषयों में सुख-भाव मालूम होता है। विषयों में सुख-भाव मालूम पड़ने से राग होता है।

प्रश्न—राग-द्वेष क्या है?

उत्तर—दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना राग है। गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना द्वेष है। राग त्याग नहीं होने देता और द्वेष प्रेम नहीं होने देता। त्याग व प्रेम से राग-द्वेष मिट जाते हैं। सारी बुराइयाँ राग-द्वेष से होती हैं और सारी अच्छाइयाँ त्याग और प्रेम से होती हैं।

प्रश्न—श्रम और विश्राम क्या है?

उत्तर—श्रम और विश्राम जीवन के दो पहलू हैं। श्रम है संसार के लिए, विश्राम है अपने लिए। दूसरों के हित के लिए श्रम करो और अपने लिए विश्राम करो। विश्राम में अमर जीवन है, सरस जीवन है, स्वाधीन जीवन है। भोग योनियों में श्रम के अतिरिक्त विश्राम है ही नहीं। पर मनुष्य

योनि में सेवा और योग है। विश्राम का अर्थ है, काम-रहित होना। विश्राम सहज व स्वाभाविक है। सही काम करने से मनुष्य काम-रहित हो जाता है।

प्रश्न—संकल्प-विकल्प क्या है?

उत्तर—संकल्प तो भुक्त इच्छाओं का प्रभाव है। पहले जो भोग चुके हैं, उसी के प्रभाव से उठता है। यदि एक संकल्प पूरा हो गया और उसका सुख भोगा, तो उसी के प्रभाव से दूसरा संकल्प उठेगा। संकल्प-पूर्ति का सुख नए संकल्प को जन्म देता है।

संकल्प-अपूर्ति से जब दुखी होते हैं, तो विकल्प उठते हैं। यदि संकल्प-पूर्ति का सुख न भोगो, अपूर्ति से दुखी न हो, तो संकल्प-विकल्प बन्द हो जाएंगे। वे हमारी किसी क्रिया का परिणाम हैं।

भोजन करने के बाद बिना कुछ किए स्वत: ही पचता है, वह प्राकृतिक शक्तियों से होता है। एक होता है 'होना', जो अपने आप होता है। 'करना' जो होता है, वह अपने अभिमान द्वारा होता है। अत: होने वाली बात कर्म नहीं है।

संसार से सम्बन्ध है सेवा के लिए और परमात्मा से सम्बन्ध है प्रेम करने के लिए। न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए। सम्बन्ध के अनुरूप संसार की सेवा करो, परमात्मा के प्रेमी बनो। न कुछ संसार से चाहो, न कुछ परमात्मा से माँगों। ऐसा होने पर संकल्प उठना बन्द हो जाएंगे।

प्रश्न—भजन क्या है?

उत्तर—सेवा, त्याग और प्रेम—तीनों इकट्ठे हो गए, भजन हो गया। भजन में सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। कर्म से सेवा करो, अचाह होकर त्याग करो, भगवान् को अपना मानकर प्रेमी हो जाओ।

जब तक भगवान् को अपना नहीं मानोगे, भगवान् प्यारा लगेगा नहीं। और जब तक भगवान् प्यारा नहीं लगेगा, तब तक उसकी याद आएगी नहीं और जब तक याद नहीं आएगी, भजन होगा नहीं।

प्रभु की महिमा स्वीकार करो, स्तुति हो गई। प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार करो, उपासना हो गई। प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो, प्रार्थना हो गई।

प्रश्न—भजन का स्वरूप व विधि क्या है? कैसे बने?

उत्तर—भजन का वास्तविक स्वरूप है—सेवा, त्याग और प्रेम! भजन करने की विधि और उपाय है—प्रभु में आस्था, श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता का होना। ये चारों बातें जीवन में आ जाने पर भजन स्वत: होता है। यानी प्रभु हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, सुख और सौन्दर्य के भण्डार हैं और मेरे हैं—ये चार बातें मान लेने पर ही वास्तविक भजन होता है।

अपने में प्रीति स्वयं होती है और जिससे प्रीति होती है, उसकी स्मृति भी स्वत: होती है। अत: स्वत: स्मृति का होना ही सच्चा भजन है। जब तक ममता, कामना और आसक्ति का त्याग नहीं करोगे, भजन होगा ही नहीं। इनका त्याग किए बिना प्रभु में आस्था ही नहीं होती। इनका त्याग होने पर ही सेवा, त्याग व प्रेम की प्राप्ति होती है।

सेवा का अर्थ है, अपने को जो मिला है वह सब प्रभु के नाते दूसरों की सेवा में लगा दें और सबके साथ भलाई करें, अच्छा व्यवहार करें। अत: वह सेवा ही प्रभु की पूजा है। इसलिए सेवा का नाम भजन है। संसार में जो कुछ है वह मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह त्याग है। मानव के जीवन में त्याग आने पर असंगता होती है। इसलिए त्याग का नाम भजन है।

सेवा से जगत् प्रसन्न होता है। त्याग से अपने में प्रसन्नता आती है। प्रेम से प्रभु प्रसन्न होते हैं। दुराचारी व भोगी मनुष्य हृदयहीन होता

है, निर्दयी व हिंसक होता है। अत: वह सेवा, त्याग और प्रेम का अधिकारी नहीं होता। इसलिए सदाचारी और संयमी बनो। तभी सेवा, त्याग, प्रेम पाने के लिए अधिकारी तथा मानव बनोगे। फिर भजन होने लगेगा। सेवा और त्याग के बिना प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होता और प्रेम के बिना प्रभु नहीं मिलते।

इसलिए सेवा, त्याग और प्रेम प्राप्त करो—यही सच्चा भजन है।

प्रश्न—स्वामी जी! कोई कहते हैं गीता पढ़ो। कोई कहते हैं रामायण पढ़ो। कोई कहते हैं—मन्दिर जाओ, जप करो, यज्ञ करो, दान दो, तप करो। समझ में नहीं आता, क्या करें? कृपया आप बतलाइए क्या करूँ?

उत्तर—जानी हुई बुराई छोड़ दो, की हुई बुराई दोहराओ मत।

प्रश्न—बुराई को छोड़ने के बाद क्या करूँ?

उत्तर—सबके प्रति सद्भाव रखो और यथाशक्ति क्रियात्मक सहयोग दो।

प्रश्न—महाराज जी! इसके बाद क्या करूँ?

उत्तर—सद्भाव और सहयोग के बदले में किसी से कुछ मत चाहो। न अभी, न कभी।

प्रश्न—फिर इसके बाद क्या करूँ?

उत्तर—पहले ये तीन कर लो, चौथी बात स्वयं मालूम हो जाएगी।

प्रश्न—स्वत: ही?

उत्तर—हाँ, स्वयं ही। अरे तुम यह क्यों चाहते हो कि हम यहाँ से तुम्हारे घर तक बिजली के खम्भे लगा दें? इतनी मेहनत मत करवाओ यार! अरे भैया! हमने तुम्हें टार्च दे दी है। इसकी रोशनी जहाँ तक जाती है वहाँ तक जाओ, आगे स्वत: मार्ग मिल जाएगा। अगर तुम केवल पहली बात कर लो, अर्थात् जानी हुई बुराई को छोड़ दो, तो तुम्हें सब कुछ

मिलेगा—शान्ति, मुक्ति, भक्ति। इससे जीवन बुराई-रहित होगा, तो स्वतः ही सारे काम होंगे।

प्रश्न—असत् के संग से भी सुख की प्राप्ति होती है क्या?

उत्तर—हाँ, क्षणिक सुख प्राप्त होता है। जैसे किसी ने झूठ बोला, धन मिल गया। इस प्रकार असत् के द्वारा सुख मिला और उसके प्रलोभनों में फँस गए, तो फिर असत् का त्याग कभी नहीं हो सकेगा। असत् का परिणाम तो दुःख देने वाला ही है।

यदि हम उसके उस भयंकर परिणाम पर अपनी दृष्टि रखें, तो असत् का त्याग सुगमतापूर्वक कर सकेंगे। जैसे हम विष के परिणाम को जानते हैं, तो विष मिली मिठाई चाहे कितनी ही स्वादिष्ट हो, लेना पसन्द नहीं करोगे। इसी तरह असत् के परिणाम को जान लेने पर असत् का त्याग कर सकेंगे।

प्रश्न—लोभ कैसे दूर हो?

उत्तर—लोभ अकेला नहीं आता, मोह के साथ ही आता है। फिर काम भी आता है, और क्रोध भी। कोई दोष अकेला नहीं आता। समस्त दोषों का मूल है—भूल। परिणाम है—जड़ता, पराधीनता। अपने ज्ञान का अनादर करना ही मूल भूल है।

प्रश्न—मोह-निवृत्ति का उपाय बताइए।

उत्तर—मोह-निवृत्ति कई प्रकार से होती है—

1. आस्था के आधार पर—केवल प्रभु मेरे अपने हैं।
2. ज्ञान के आधार पर—आसक्ति छोड़ने से।
3. सेवा के आधार पर—सेवा करें, कुछ न चाहें।

प्रश्न—शारीरिक कष्ट पापों के परिणाम हैं क्या? सुना है भगवान् का नाम लेने से पाप नाश होते हैं?

उत्तर—शारीरिक कष्ट पापों का फल नहीं है। वह इसलिए कि अगर पाप का फल होता, तो कोई तो पुण्यात्मा ऐसा होता, जिसे शारीरिक कष्ट

नहीं होता। नाम की महिमा तो भक्ति में प्रगाढ़ता लाने के लिए है। नाम प्यारा लगना चाहिए।

प्रश्न—जीवन में भय क्यों होता है?

उत्तर—जीवन में तीन प्रकार का भय होता है—

1. वियोग का भय। इस भय का कारण व्यक्ति-मोह है। जो वास्तव में अपना है उसे अगर अपना करके अनुभव कर लेते हैं, तो वियोग का भय नहीं होता।

2. हानि का भय। इस भय का कारण वस्तु की ममता है। जो अपनी नहीं है, उसे अपनी मान लिया है।

3. अपमान का भय। इस भय का कारण देह-अभिमान है। शरीर को बनाए रखना पसन्द करते हैं, जो कभी रहने वाला नहीं है। हमें देह से मोह हो गया है।

प्रश्न—व्यर्थ-चिन्तन और सार्थक चिन्तन क्या है?

उत्तर—अनित्य का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन और नित्य का चिन्तन सार्थक चिन्तन। वस्तु-व्यक्ति का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन और आत्मा-परमात्मा का चिन्तन सार्थक चिन्तन।

प्रश्न—सम्मान के सुख से नुकसान क्या है?

उत्तर—सम्मान का सुख इतना भयंकर विष है कि विष खाने से तो मनुष्य एक ही बार मरता है, परन्तु सम्मान का सुख भोगने से कई बार जीना-मरना पड़ता है।

प्रश्न—बुराई क्या है?

उत्तर—हमारे स्वाधीन होने में जो बाधक होवे, हमारे उदार होने में जो बाधा डाले, वही बुराई है।

प्रश्न—बन्धन क्या है और कैसे टूटे?

उत्तर—लेना बन्धन है। लेना बन्द करके, देना दे डालने पर बन्धन जैसी चीज रह ही नहीं जाती।

प्रश्न—लेने में क्या बुराई है?

उत्तर—लेने की रुचि ही नए राग की जननी है, जो पूरी न होने पर क्रोधित कर देती है। क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति हो जाती है।

प्रश्न—प्रभु की विस्मृति क्यों हो जाती है और कैसे मिटे?

उत्तर—प्रभु की विस्मृति मिटानी हो, तो आसक्तियाँ मिटानी होंगी।

प्रश्न—प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

उत्तर—सब ममताओं को त्याग कर केवल प्रभु को अपना मानो, इसी से प्रेम की प्राप्ति होगी। एक मात्र प्रभु को अपना मानना और कुछ नहीं चाहना—यही प्रेम प्राप्त करने का उत्तम साधन है। बहुत तप तथा यज्ञ करने से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। तप तो हिरण्यकश्यप और रावण ने भी बहुत किए थे, परन्तु उनको प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई। एक सहस्र यज्ञ करके इन्द्र बन कर स्वर्ग का राज्य करता है, किन्तु उसे भी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान और चिन्तन से भी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इससे तो चित्त की शुद्धि होती है।

प्रेम-प्राप्ति का मुख्य साधन प्रभु से अपनी आत्मीयता का होना है। आत्मीयता होती है, अन्य सभी ममताओं के त्याग से। धन भी मेरा और प्रभु भी मेरा— दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। अपना मान लेने पर प्रीति का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। सब इस बात को जानते हैं। अपना शरीर रोगी हो, तब भी प्यारा लगता है। अपना पुत्र काना हो, तब भी प्यारा लगता है। जीर्ण-शीर्ण मकान भी प्यारा लगता है। फिर प्रभु तो सर्वगुण-सम्पन्न, सुख के भण्डार और सौन्दर्य की निधि हैं। हम भगवान् को अपना मान लें और प्रीति जाग्रत न हो—यह बात कैसे हो सकती है।

प्रश्न—प्रभु का हर विधान मंगलमय है—यह बात कैसे समझ में आए?

उत्तर—यह श्रद्धा का विषय है। साधक को आस्था और पूर्ण विश्वास हो जाने से एक बड़ा लाभ यह होता है कि उसे प्रभु का बल मिलता है। प्रभु परम दयालु हैं, क्रूर नहीं; परम शान्त हैं, क्रोधी नहीं। प्रभु सदा सजग हैं, वहाँ भूल नहीं होगी। हमारी भलाई का जितना हमें ज्ञान है उन्हें उससे अधिक ज्ञान है। जो काम नहीं करना है, उसे भी हम कर लेते हैं और चाहते यह हैं कि ईश्वर से सब प्रकार की सुविधा मिले। जैसे—सूर्य का प्रकाश, स्वाँस लेने के लिए वायु, पीने के लिए जल और धरती माता का आश्रय हमें निरन्तर मिल रहा है। जो उतने उदार व कृपालु हैं, वे हमारे लिए कठोर विधान कैसे बना सकते हैं?

इस प्रकार चिन्तन करते रहने से उनके मंगलमय विधान में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। विधान में तीन बातें होती हैं—जानना, मिलना और होना। यदि हम जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग करने लग जाएं, तो जो होने वाला है, वह मंगलमय ही होगा। 'करने' में सावधान रहने से 'होने' में प्रसन्न रहने की योग्यता आ जाती है।

प्रश्न—हमारी माँग क्या है और वह कैसे पूरी हो?

उत्तर—मानव की माँग है—दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति। माँग पूरी होने का उपाय है—भगवत् शरणागति। इसके लिए हमें तीनों शरीरों से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा। स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर अनिष्ट चिन्तन मिट जाता है। कारण शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर सब प्रकार की वासना और गुणों का अभिमान मिट जाता है।

इस प्रकार शरणागति होने पर साधक के दुःखों की निवृत्ति हो जाती है और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—भगवान् को पाने के लिए क्या करें?

उत्तर—भगवान् से मिलने में भगवान् से आत्मीय सम्बन्ध ही हेतु है। उनको अपना मान लो, भगवान् मिल जाएंगे। भगवत् सम्बन्ध में संसार का सम्बन्ध बाधक है, संसार बाधक नहीं है। अतः संसार का सम्बन्ध छोड़ दो।

प्रश्न—संसार से सम्बन्ध तोड़ना और प्रभु को अपना मानना, यह कैसे हो?

उत्तर—घर के लोगों की सेवा करो, सम्बन्ध मत मानो। केवल प्रभु से सम्बन्ध मानो।

प्रश्न—मन भटकता रहता है।

उत्तर—मन कहीं नहीं भटकता। तुम संसार को चाहते हो, उसकी याद आती है। यह दोष अपना है।

प्रश्न—सुख और आनन्द में क्या अन्तर है?

उत्तर—सुख से दुःख दब जाता है, आनन्द से दुःख मिट जाता है।

प्रश्न—विचार क्या है?

उत्तर—'यह'—संसार, 'वह'—परमात्मा, 'मैं'—शरीर का अभिमानी—इन तीनों का ज्ञान हो जाना ही विचार है। सूरज—'वह', धूप—'यह', किरण—'मैं' के समान हैं। किसी एक का ज्ञान हो जाए, तो तीनों का ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न—जड़ क्या है?

उत्तर—जो दूसरों की सत्ता से प्रकाशित हो, जो स्वाधीन न हो, और जो पराधीन हो, वह जड़ है।

प्रश्न—चेतना क्या है?

उत्तर—चेतना सूर्य के समान है, जो स्वयं प्रकाशित है और जिससे जड़ पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

प्रश्न—आनन्द क्या है?

उत्तर—जो होकर कभी मिटे नहीं। जिसके मिलने पर फिर कुछ और पाने की इच्छा न रहे, वही आनन्द है।

प्रश्न—मन क्या है?

उत्तर—वासनाओं के समूह का नाम ही मन है। सभी वासनाओं का अन्त करने पर मन मिट जाता है और फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार शेष नहीं रहते। वासनाओं का अन्त यथार्थ ज्ञान से होता है। ज्ञान हृदय शुद्ध होने पर होता है। हृदय त्याग और प्रेम से शुद्ध होता है। शरीरादि किसी वस्तु को अपना न समझना त्याग है और परमात्मा से किसी प्रकार की दूरी न रहना प्रेम है। त्याग होने पर प्रेम आपने आप आ जाता है।

प्रश्न—संसार क्या है?

उत्तर—भगवान् से मिलने की ट्रेनिंग। जो संसार में ठीक से रह लेता है, वह भगवान् से अच्छी तरह मिल सकता है। अगर वह भूल भी जाता है, तो भगवान् आकर मिल लेते हैं। अगर आप परिस्थितियों का ठीक उपयोग कर सकते हैं, तो आपको भगवान् की याद नहीं करनी पड़ेगी, भगवान् आपको याद करेंगे। सिद्धि आपका वरण करेगी, धर्म का आप में अवतरण होगा।

प्रश्न—जीवन में मृत्यु का अनुभव करना और जीते जी मरने से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जीवन में मृत्यु का अनुभव करने और जीते जी मरने से ही अमर जीवन की प्राप्ति होती है। वर्तमान परिवर्तनशील जीवन को ही जीवन मानना मृत्यु के मुख में जाना है। कारण यह है कि जिसका सतत परिवर्तन हो रहा है, वह जीवन नहीं है। जो नित्य एकरस बना रहे, वस्तुतः वही जीवन है। उस एकरस जीवन में स्थित रहना ही जीते जी मुक्त होना है।

प्रश्न—स्वाधीन जीवन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—जिस व्यक्ति को अपनी प्रसन्नता के लिए दूसरों की ओर देखना नहीं पड़ता, उसी का जीवन स्वाधीन जीवन है।

प्रश्न—स्वाधीनता कैसे प्राप्त करें?

उत्तर—"कुछ न चाहो, काम आ जाओ"। कुछ न चाहने से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती और दूसरों के काम आ जाने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है।

प्रश्न—यदि हम कुछ न चाहें, तो जीवन-निर्वाह कैसे होगा?

उत्तर—शरीर को संसार के हवाले करने से।

प्रश्न—सरस जीवन का क्या स्वरूप है?

उत्तर—अभाव-रहित तथा सदैव आनन्दमग्न जीवन ही सरस जीवन है।

प्रश्न—इसे प्राप्त करने का उपाय?

उत्तर—अपने को भगवान् के हवाले कर दो।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ की बातें कहने और सुनने में बहुत अच्छी लगती हैं, किन्तु जीवन में नहीं उतरती हैं। क्यों?

उत्तर—क्योंकि हम शरीर आदि वस्तुओं से सुख लेना चाहते हैं तथा आगे भी इसके आकर्षण को छोड़ना नहीं चाहते। यदि यह समझ में आ जाए कि हर सुख किसी न किसी का दु:ख है, तो सुख भोग के आकर्षण का स्वत: नाश हो जाएगा। यह आकर्षण यदि न रहे, तो मानव-सेवा-संघ की सभी बातें जीवन में स्वत: उतर आवेंगी।

प्रश्न—साधन क्या है?

उत्तर—साधन की अभिव्यक्ति सत्संग के द्वारा होती है।

प्रश्न—साधन में विघ्न क्या है?

उत्तर—अपने सुख-दु:ख का कारण दूसरों को मानना साधन का सबसे बड़ा विघ्न है। जिसको हम अपने सुख का कारण मान लेते हैं,

उससे राग हो जाता है और जिसको दुःख का कारण मान लेते हैं, उससे द्वेष हो जाता है। राग-द्वेष के रहते हुए साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

प्रश्न—उपासना क्या है?

उत्तर—साध्य में अगाध प्रियता ही सच्ची उपासना है।

प्रश्न—उपासना की सिद्धि कैसे हो?

उत्तर—"है" से (प्रभु से) नित्य एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से उपासना की अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न—उपासना में विघ्न क्या है?

उत्तर—साधन में साध्य-बुद्धि स्वीकार करना ही उपासना का सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न—ध्यान क्या है?

उत्तर—"है" की प्रियता में डूब जाना ही सच्चा ध्यान है।

प्रश्न—ध्यान की सिद्धि कैसे हो?

उत्तर—अपने को सभी विषयों से हटा लेने से ही ध्यान की सिद्धि होती है।

प्रश्न—ध्यान में विघ्न क्या है?

उत्तर—व्यर्थ-चिन्तन ध्यान का सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न—भजन क्या है?

उत्तर—"है" की अखण्ड स्मृति ही सच्चा भजन है। अखण्ड स्मृति जिसमें पैदा होती है और जिसके प्रति पैदा होती है, दोनों के लिए रस रूप होती है।

प्रश्न—भूल-जनित सुख का भोग नहीं किया जाए, तो क्या भूतकाल में की गई भूलों के आधार पर भूल जनित-प्रवृत्तियों की आवृत्ति नहीं होती रहेगी?

उत्तर—नहीं, भूल मानव का स्वभाव नहीं है। संघ के सिद्धान्त में वर्तमान सभी का निर्दोष है। भुक्त-अभुक्त के प्रभाव के कारण पिछले संस्कार सामने आएंगे, किन्तु उनका विरोध, समर्थन एवं उनसे तादात्म्य न करने से नाश हो जाएंगे और की हुई भूल पर पश्चात्ताप कर भविष्य में न दोहराने से वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित रहेगी।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ के सूत्र में कहा गया है कि "उस सुख का त्याग करो, जो किसी का दुःख हो।" अब प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा भी सुख है, जो किसी का दुःख न हो?

उत्तर—नहीं। ऐसा कोई सुख नहीं हो सकता, जो किसी का दुःख न हो। अतः साधक के जीवन में सुख-भोग का कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न—गृहस्थ जीवन में रहते हुए साधन सम्बन्धी बातें बहुत कठिन मालूम पड़ती हैं। क्या किया जाए?

उत्तर—गृहस्थ जीवन वास्तविक जीवन की प्राप्ति की एक प्रयोगशाला है। यदि हम दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए, अपने अधिकार का त्याग कर दें, तो पूरा गृहस्थ जीवन साधनयुक्त हो जाएगा और किसी प्रकार की कठिनाई मालूम नहीं पड़ेगी। परन्तु हम भूल के कारण अपने अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। फलतः गृहस्थ जीवन में कठिनाई मालूम पड़ती है।

प्रश्न—मानव-जीवन की पूर्णता से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—मानव-जीवन के तीन पहलुओं अर्थात् भौतिक, आध्यात्मिक और आस्तिक को पूर्ण रूप से विकसित करना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। भौतिक विकास का तात्पर्य है, सबको किसी न किसी नाते (विश्व के नाते, आत्मा के नाते अथवा परमात्मा के नाते) अपना मान कर सहयोग करना। आध्यात्मिक विकास का तात्पर्य है कि अकिंचन अचाह होकर अपने में सन्तुष्ट रहना। आस्तिक विकास का तात्पर्य है कि भौतिक विकास

से प्राप्त शान्ति एवं आध्यात्मिक विकास से प्राप्त स्वाधीनता को प्रभु की प्रसन्नता के लिए उन पर न्योछावर कर देना। इन पहलुओं के पूर्ण विकास में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

प्रश्न—विवेकी एवं भक्त होने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—हर समय निज स्वरूप की याद बनी रहना विवेकी एवं हर समय प्रभु की याद में डूबे रहना भक्त होने के अर्थ में आता है।

प्रश्न—भजन सिद्ध कैसे होता है?

उत्तर—"है" को ही अपना मानने से भजन सिद्ध होता है।

प्रश्न—भजन में विघ्न क्या है?

उत्तर—संसार की याद आना।

प्रश्न—पूजन सिद्ध कैसे हो?

उत्तर—शरीर में ममत्व-बुद्धि तथा अपनत्व बुद्धि न रख कर वर्तमान का सदुपयोग करने से पूजन की सिद्धि होती है।

प्रश्न—पूजन में विघ्न क्या है?

उत्तर—कर्त्तव्य का अभिमान और उसके फल की इच्छा रखना पूजन का सबसे बड़ा विघ्न है।

प्रश्न—अप्रयत्न होने से क्या तात्पर्य है? हमें किन-किन बातों में अप्रयत्न रहना चाहिए और किन-किन बातों के लिए प्रयत्न करना चाहिए?

उत्तर—अपने को हर प्रकार से भगवान् के हवाले कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना ही अप्रयत्न होना है। इसके बाद कुछ करना शेष नहीं रहता, बल्कि करना "होने" में एवं होना "है" में विलीन हो जाता है। अप्रयत्न होने के बाद हर चेष्टा प्रभु की प्रसन्नता के लिए होती रहती है।

प्रश्न—जीवन की प्राप्ति का सरल और अचूक उपाय क्या है?

उत्तर—सभी विश्वासों को एक विश्वास में, सभी सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में तथा सभी इच्छाओं को एक आवश्यकता में विलीन कर देना जीवन-प्राप्ति का सरल एवं अचूक उपाय है।

प्रश्न—अपने को साधक स्वीकार करने पर भी कभी-कभी दूसरों के प्रति द्वेष का भाव आ जाता है। ऐसी दशा में क्या किया जाए?

उत्तर—अपने को साधक स्वीकार करने के बाद यदि दूसरों के प्रति द्वेष की भावना आती है, तो अपनी स्वीकृति की दृढ़ता में कमी है। ऐसी दशा में साधक को सतर्क होकर अपनी निष्ठा को दृढ़ करना चाहिए। साधक के जीवन में अपने जाने हुए असत् का संग नहीं रहना चाहिए और व्यथित हृदय से प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। सफलता अनिवार्य है।

प्रश्न—क्या प्रभु हैं? यदि हैं तो उनके होने का क्या प्रमाण है?

उत्तर—भक्त-वाणी, सन्त-वाणी व ग्रन्थों के आधार पर हम मानते हैं कि प्रभु हैं। उनके होने का प्रमाण यह है कि वे शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की माँग के रूप में मानव में विद्यमान हैं। प्रभु परम उदार, परम शान्त, परम प्रेमी और परम स्वाधीन हैं। ये सब बातें माँग के रूप में हर मानव में विद्यमान हैं। इस माँग का होना ही प्रभु के होने का प्रमाण है।

प्रश्न—भगवान् के अपने में मौजूद होते हुए भी हम उन्हें क्यों नहीं देख पाते हैं?

उत्तर—चूँकि हम भगवान् की आवश्यकता अपने जीवन में महसूस नहीं करते, इसलिए वे हमें दिखाई नहीं देते।

प्रश्न—हम भगवान् की आवश्यकता कैसे महसूस करें?

उत्तर—अपने जाने हुए असत् का त्याग करने से हम अपने जीवन में भगवान् की आवश्यकता अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न—जब सभी परिस्थितियाँ भाग्य से निर्मित हैं, तो मानव-जीवन में कुछ करने का महत्त्व क्या है?

उत्तर—यह सही है कि सभी परिस्थितियों का निर्माण भाग्य से होता है, परन्तु उनका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की स्वाधीनता मानव मात्र को मिली है। दूसरी बात, हम किए बिना रह नहीं पाते, क्योंकि करने का

राग हममें विद्यमान है। इस विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए आवश्यक कार्य सद्भावना पूर्वक, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, पूरी शक्ति लगाकर, शुद्ध भाव से करना चाहिए, जिससे करने के राग की निवृत्ति हो जाए। अत: करने के सम्बन्ध में दो बातें हुईं वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और दूसरी ओर करने के राग की निवृत्ति होने से अपना कल्याण होता है, जो मानव का लक्ष्य है।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ में यह कहा जाता है कि या तो किसी को अपना मत मानो या सबको अपना मानो। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—किसी को अपना न मानने से राग की उत्पत्ति नहीं होती और सबको अपना मानने से द्वेष उत्पन्न नहीं होता। इस तरह दोनों मान्यताओं से राग-द्वेष से छुट्टी हो जाती है, जो मानव के विकास में सहायक है।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य क्या है?

उत्तर—मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य मानव का अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण है। अपने कल्याण का अर्थ है, अपनी प्रसन्नता के लिए 'पर' की आवश्यकता न रहे। सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ है कि ऐसे समाज का निर्माण, जिसमें सभी के अधिकार सुरक्षित हों, किसी के अधिकार का अपहरण न होता हो। इस उद्देश्य की पूर्ति दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग से होती है। दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से सुन्दर समाज का निर्माण और विद्यमान राग की निवृत्ति होती है, और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती है।

प्रश्न—असंगता कैसे प्राप्त की जाए?

उत्तर—अकिंचन और अचाह होने से असंगता प्राप्त होती है।

प्रश्न—अचाह एवं अप्रयत्न होने के बाद क्या दशा होती है?

उत्तर—इसके बाद दशा नहीं रहती, अपितु जीवन की प्राप्ति होती है। जीवन उसको कहते हैं, जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, दु:ख न हो एवं समस्त जीवन अगाध, अनन्त, नित-नव-रस से भरा हो।

प्रश्न—क्या साधन करने के लिए घर-गृहस्थी आदि छोड़ना आवश्यक है?

उत्तर—साधन के निर्माण के लिए सत्संग करना आवश्यक है, किसी परिस्थिति विशेष का कोई अर्थ नहीं है। सत्संग करने में मानव मात्र हर परिस्थिति में समान रूप से स्वाधीन है।

प्रश्न—बुराई को छोड़ना चाहने पर भी यदि न छूट पाए, तो क्या किया जाए?

उत्तर—व्यथित हृदय से सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना की जाए।

प्रश्न—विवेक और सत्य में क्या अन्तर है?

उत्तर—विवेक साधन-सामग्री है और सत्य साध्य है।

प्रश्न—व्रत, तप, प्रायश्चित व प्रार्थना का क्या अर्थ है?

उत्तर—लक्ष्य की प्राप्ति का संकल्प व्रत है, उसमें आने वाले कष्टों को हर्षपूर्वक सहन करना तप है, की हुई भूल को न दोहराना प्रायश्चित है तथा लक्ष्य की अपूर्ति के दुःख से दुखी होकर व्यथित हृदय की पुकार प्रार्थना है।

प्रश्न—क्रोध और मोह से कैसे छुटकारा पाया जाए?

उत्तर—अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से क्रोध और मोह से छुटकारा मिल सकता है।

प्रश्न—परिस्थिति का क्या अर्थ है?

उत्तर—व्यक्तिगत विकास की साधन-सामग्री का नाम परिस्थिति है।

प्रश्न—भौतिक विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर—सुखियों को देख कर प्रसन्न होना और दुखियों को देखकर करुणित होना।

प्रश्न—आध्यात्मिक विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर—अपनी प्रसन्नता के लिए 'पर' की आवश्यकता अनुभव न करने में ही आध्यात्मिक विकास है।

प्रश्न—आस्तिक विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रभु से प्रेम करना आस्तिक विकास है।

प्रश्न—राग-द्वेष का क्या अर्थ है?

उत्तर—भूल को भूल जानकर भी करना अर्थात् यह जानते हुए भी कि कोई भी संसार में अपना नहीं है, फिर भी किसी को अपना करके मानना राग है और जो वास्तव में अपना है, उसे अपना न मानना द्वेष है।

प्रश्न—संकल्प किसे कहते हैं?

उत्तर—जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति व अवस्था में सम्बन्ध जोड़ दे, उसे संकल्प कहते हैं।

प्रश्न—अभाव का क्या अर्थ है?

उत्तर—कुछ करना चाहें, न कर सकें, पाना चाहें, न पा सकें-उसे अभाव कहते हैं।

प्रश्न—जब हम गृहस्थी के कार्यों में लग जाते हैं, तो हमारी चेतना बनी नहीं रहती। क्या उपाय करें कि हमारी चेतना बनी रहे?

उत्तर—हर समय चेतना बनाए रखने के लिए सत्संग ही एक मात्र उपाय है। अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के पश्चात् हमें निश्चिन्तता और निर्भयता प्राप्त हो जानी चाहिए। जब करने में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेते हैं, तो परिणाम स्वरूप करने के फल और उसके अभिमान से मुक्त नहीं हो पाते और जड़ता में आबद्ध हो जाते हैं। सत्संग से "करना" "होने" में और होना "है" में बदल जाता है, फिर हर समय चेतना बनी रहती है।

प्रश्न—मुझे मानव-सेवा-संघ बहुत पसन्द है। मैं चाहता हूँ कि इस विचार-धारा का बहुत बड़े पैमाने पर प्रचार-प्रसार किया जाए। इस सम्बन्ध में मैं क्या कर सकता हूँ?

उत्तर—मानव-सेवा-संघ की विचारधारा के अनुसार अपना जीवन बनाया जाए। जो बात व्यक्ति के जीवन में आ जाती है, वह विभु हो जाती है और उसका प्रभाव अपने आप बृहत् समाज पर पड़ता है।

प्रश्न—व्यर्थ-चिन्तन क्या है?

उत्तर—व्यर्थ-चिन्तन वह चिन्तन है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान क्रिया से न हो।

प्रश्न—व्यर्थ-चिन्तन का त्याग कैसे किया जाए?

उत्तर—व्यर्थ-चिन्तन को व्यर्थ करके जानना उसके त्याग में हेतु है। अपने न करने पर यदि ऐसा चिन्तन होता है, तो उससे भयभीत मत होना। बल्कि यह जानकर कि जिसको हम कर नहीं रहे हैं, फिर भी वह हो रहा है, तो उसका उत्तरदायित्व हमारा नहीं है। वह हो रहा है-मिटने के लिए। उस चिन्तन का न तो विरोध किया जाए और न उससे सहयोग। बस, उसके कर्त्ता होने का अपने पर आरोप न किया जाए।

प्रश्न—व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से वर्तमान का सदुपयोग कैसे होगा?

उत्तर—व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से समस्त प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग स्वत: होने लगेगा। दोनों युगपद् हैं। व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से वर्तमान का सदुपयोग होने लगता है तथा वर्तमान के सदुपयोग से व्यर्थ-चिन्तन का त्याग स्वत: होने लग जाता है।

प्रश्न—वर्तमान के सदुपयोग से भविष्य उज्ज्वल कैसे होगा?

उत्तर—यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान के सदुपयोग से भविष्य उज्ज्वल होगा। वर्तमान का सदुपयोग वस्तुत: व्यक्ति, वस्तु तथा परिस्थिति

के राग से मुक्त करने में समर्थ है। इन रागों से मुक्त होना ही स्वाधीन होना है। स्वाधीन होना ही भविष्य का उज्ज्वल होना है। स्वाधीन ही प्रेमी होता है। उज्ज्वल का अर्थ अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की प्राप्ति नहीं है। ये सब तो बन्धन के मूल हैं, जो पतन का कारण बनते हैं, विकास का नहीं। उज्ज्वल से भाव यहाँ दिव्य चिन्मय नित्य जीवन से है, जिसमें मानव-जीवन की कृतार्थता है।

प्रश्न—सर्व दुःखों की निवृत्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर—इच्छा-पूर्ति में सुख और अपूर्ति में दुःख का अनुभव होता है। अतः इच्छा-रहित होने से दुःख की निवृत्ति हो जाती है, जो विवेक का आदर करने से साध्य है।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ की क्या विशेषता है?

उत्तर—मानव-सेवा-संघ यह विश्वास दिलाता है कि जो जीवन आज तक किसी महामानव को मिला होगा, वह जीवन वर्तमान में मौजूद है, और हर मानव को स्वाधीनतापूर्वक मिल सकता है।

प्रश्न—इस जीवन को पाने में देरी क्या है?

उत्तर—अपनी जानी हुई बुराइयों को न छोड़ना ही इस जीवन को पाने में देरी है।

प्रश्न—इस असमर्थता का उपाय क्या है?

उत्तर—अपनी असमर्थता का अनुभव करना और अपने को भगवान् की गोद में छोड़ देना ही इसका अचूक उपाय है।

प्रश्न—अहं के नाश का क्या उपाय है?

उत्तर—अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करने से एवं अपने को भगवान् को समर्पित करने से अहं का नाश हो जाता है।

प्रश्न—भाग्य का क्या अर्थ है? जीवन में इसका क्या महत्त्व है?

उत्तर—किए हुए कर्मों के फलस्वरूप जो परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं, उनका नाम भाग्य है। सुखद परिस्थितियों में उदारता और दुःखद

परिस्थितियों में त्याग को अपनाकर विद्यमान राग की निवृत्ति के द्वारा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है।

प्रश्न—क्रोध न आए, इसका क्या उपाय है?

उत्तर—अपने सुख-दुःख का कारण दूसरे को न मानकर, अपने अधिकार का त्याग करने से क्रोध का नाश हो जाता है।

प्रश्न—संसार मिलता भी नहीं और उसका चिन्तन भी नहीं छूटता, क्या उपाय किया जाए?

उत्तर—संसार-प्राप्ति की चेष्टाओं को छोड़कर उसकी सत्ता को अस्वीकार करने से उसका आकर्षण एवं उसके चिन्तन से छुटकारा मिल सकता है।

प्रश्न—समाज में दूसरों को गलती करते हुए देखकर चित्त अशान्त बना रहता है। इसकी निवृत्ति के लिए क्या उपाय है?

उत्तर—दूसरों के दुःख से दुःखी होने से करुणरस की अभिव्यक्ति होती है, और नीरसता का नाश होता है। तब चित्त की अशान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका अर्थ है कि कोई भूल अपने में है, और वह अपना सीमित अहं ही हो सकता है।

प्रश्न—साधन सही ढंग से चल रहा है या नहीं, इसके क्या चिह्न हैं?

उत्तर—साधन सही चल रहा है—इसके चिह्न जानने की जरूरत नहीं होती, क्योंकि भोजन के बाद भूख मिटी या नहीं, यह दूसरों से पूछना नहीं पड़ता। साधन यदि ठीक चल रहा है, तो जड़ता, पराधीनता तथा आसक्ति का नाश हो ही जाना चाहिए।

प्रश्न—मरने से डर क्यों लगता है?

उत्तर—प्राणशक्ति के नाश हो जाने एवं वासनाओं के शेष रह जाने का ही नाम मृत्यु है। यदि प्राण-शक्ति के रहते हुए सर्व वासनाओं का नाश हो जाए, तो मरने से डर नहीं लग सकता।

प्रश्न—राग-द्वेष हटते नहीं, केवल स्थान बदलते हैं। क्या यह मेरी मान्यता सही है?

उत्तर—आपकी यह मान्यता सही नहीं है। अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को न मानकर, अपने अधिकारों का त्याग कर, दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने से राग-द्वेष हमेशा के लिए मिट जाते हैं।

प्रश्न—प्रारब्ध से आए सुख-दुःखों से कैसे छुटकारा मिल सकता है?

उत्तर—प्रारब्ध से आए हुए सुख में उदारता एवं दुःख में त्याग अपनाने से सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है और सुख-दुःख से हमेशा के लिए छुट्टी मिल जाती है।

प्रश्न—प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

उत्तर—यदि भगवान् के पास कामना लेकर जाएँगे, तो भगवान् संसार बन जाएँगे और यदि संसार के पास निष्काम होकर जाएँगे, तो संसार भी भगवान् बन जाएगा।

अतः भगवान् के पास उनसे प्रेम करने के लिए जाएँ और संसार के पास सेवा करने के लिए और बदले में भगवान् और संसार, दोनों से कुछ न चाहें, तो दोनों से ही प्रेम मिलेगा। प्रेम के अतिरिक्त इस जगत् में और कुछ सार वस्तु है भी नहीं।

प्रश्न—भक्त होने का अधिकारी कौन है?

उत्तर—जिस साधक को शान्ति और मुक्ति भी खारी लगे, वह साधक भक्त होने का अधिकारी है।

प्रश्न—जो साधक ईश्वर को नहीं मानता, उसके लिए क्या साधन है?

उत्तर—उस साधक को बुराई-रहित होकर अचाह होना चाहिए। बुराई-रहित होने से व्यक्ति भला हो जाता है और जब वह भलाई के फल और अभिमान को छोड़ देता है, तो मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ के दर्शन में बताया जाता है कि संसार को नापसन्द करने से मुक्ति और भक्ति मिल जाती है। इसको कैसे जीवन में उतारा जाए?

उत्तर—संसार को नापसन्द करने का अर्थ है, उसे अपनी रुचि-पूर्ति का साधन न बनाकर उसकी सेवा की जाए। परमात्मा को पसन्द करने का अर्थ, 'उसको' अपना मानें और बदले में कुछ न चाहें। यदि भोजन करें, तो खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिए, सुनें तो बोलने वाले की खुशी के लिए, बोलें तो सुनने वाले की खुशी के लिए और करें, तो दूसरों को राहत पहुँचाने के लिए—ऐसा करने से मुक्ति और भक्ति मिल सकती है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। जो हार नहीं मानता, वह विजयी अवश्य होता है।

प्रश्न—साधक की मूल समस्या क्या है?

उत्तर—वह शान्त होना चाहता है, पर व्यर्थ-चिन्तन होता है।

प्रश्न—योग क्या है?

उत्तर—चित्त का शुद्ध एवं शान्त हो जाना ही योग है। दूसरों को सहयोग देने से और उनके प्रति सद्भावना रखने से चित्त शुद्ध होता है और बदले में कुछ न चाहने से शान्त हो जाता है। परिश्रम और पराश्रय को छोड़कर विश्राम और हरि-आश्रय को अपनाना योगवित् होने का अचूक उपाय है। अब यदि कोई कहे कि मैं तो हरि-आश्रय नहीं ले सकता। तो वह 'स्व' का आश्रय ले ले और निर्मम तथा निष्काम होकर राग-रहित हो जाए। यदि कोई कहे कि मुझे अपनेपन का बोध नहीं है, तो वह कर्त्तव्य में तो विश्वास कर सकता है। अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से भी राग की निवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति होते ही योग की प्राप्ति स्वत: होती है।

प्रश्न—योग में बाधा क्या है?

उत्तर—भोग की रुचि ही योग की सबसे बड़ी बाधा है।

प्रश्न—कर्त्तव्य-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान एवं आस्तिक-विज्ञान का क्या अर्थ है?

उत्तर—वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा संसार की सेवा करना कर्त्तव्य-विज्ञान है। सेवा के फल और अहं को छोड़ना अध्यात्म-विज्ञान है और प्रभु की प्रसन्नता के लिए बिना किसी शर्त के सब प्रकार से उन्हीं का होकर उनको प्यार करना आस्तिक-विज्ञान है। बोलचाल की भाषा में-जगत् हमारी आवश्यकता अनुभव करे, यह है कर्त्तव्य-विज्ञान। हमें जगत् की आवश्यकता न रहे, यह अध्यात्म-विज्ञान और हमें परमात्मा अच्छे लगें, यह आस्तिक-विज्ञान है।

प्रश्न—जीवन में भगवान् और विश्राम की जरूरत क्यों है?

उत्तर—क्योंकि भगवान् के सिवाय कोई और ऐसा साथी नहीं है, जो सदैव हमारे साथ रह सके। इसलिए जीवन में भगवान् की जरूरत है। परिश्रम से जो थकावट आती है, वह विश्राम से ही दूर होती है। इसलिए विश्राम की जरूरत है।

प्रश्न—'प्राप्त' की प्राप्ति में क्या रुकावट है?

उत्तर—संसार का आकर्षण ही प्राप्त भगवान् की प्राप्ति में रुकावट है।

प्रश्न—हमारे साधन सीमित होने से हम सबकी सेवा कैसे कर सकते हैं?

उत्तर—मन, वचन और कर्म से बुराई-रहित होने से विश्व की सेवा, बुराई-रहित भलाई करने से समाज की सेवा, भलाई का फल और अभिमान छोड़ने से अपनी सेवा और प्यार से प्रभु की सेवा होती है। इन सब बातों को करने में मानव-मात्र स्वाधीन है।

प्रश्न—व्यर्थ-चिन्तन का नाश कैसे हो?

उत्तर—व्यर्थ-चिन्तन का नाश नीरसता का नाश होने से होता है और नीरसता का नाश उदारता, स्वाधीनता, एवं प्रियता से होता है। उदारता का अर्थ है—सभी को अपना मानना। जिस तरह एक शरीर की सेवा करते हैं, उसी तरह अनेक शरीरों की सेवा करें। स्वाधीनता का अर्थ है, अपनी प्रसन्नता के लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव न करना अथवा दूसरे शरीरों की तरह अपने शरीर से भी असंग रहना। प्रियता का अर्थ है, प्रभु से बिना किसी शर्त के आत्मीय एवं नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना।

प्रश्न—यदि ईश्वर की ओर से आकर्षण होता है, तो वह मानव को अपनी ओर खींच क्यों नहीं लेता अथवा मानव स्वयं खिंच क्यों नहीं आता?

उत्तर—ईश्वर मानव की स्वाधीनता छीनना नहीं चाहता। इसलिए मानव जब तक स्वयं अपनी ओर से ईश्वर के सम्मुख नहीं होता, तब तक ईश्वर उसके पीछे ही रहता है।

वस्तुओं में वह शक्ति नहीं है कि वे मानव को अपनी ओर खींच सकें। मानव अपनी भूल से ही वस्तुओं के पीछे दौड़ता है। वस्तुओं में प्रतिकार की भी शक्ति नहीं है। अत: इसमें अपनी ही भूल है, जिससे ईश्वर की ओर अपना खिंचाव नहीं होता।

प्रश्न—मन को निर्विकल्प करने के लिए प्रयत्न करने पर भी मन एक मिनिट के लिए भी स्थिर नहीं हो पाता, जप करते समय अन्य चिन्तन आता है। इसका नाश कैसे हो?

उत्तर—जो दिखाई देने वाले लुभावने व सुहावने संसार के आकर्षणों को नापसन्द करके, बिना देखे, बिना जाने भगवान् को बिना शर्त के पसन्द करता है, उसी से निर्विकल्पता साध्य है।

प्रश्न—अहं की पूर्ति शरीर के किस अंग में होती है?

उत्तर—अहं की पूर्ति शरीर के किसी अंग में नहीं होती। वस्तुत: 'मैं' शरीर की जाति का नहीं है।

प्रश्न—स्वामी जी! विचार-पथ और श्रद्धा-पथ में से कौन-सा पथ सुगम और श्रेष्ठ है?

उत्तर—देखो! ये दोनों सुगम और श्रेष्ठ हैं। परन्तु अधिकारी का भेद है। जो समर्थ साधक है, उसके लिए विचार-पथ तथा जो असमर्थ है उसके लिए श्रद्धा-पथ सुगम और श्रेष्ठ है। वैसे तो सामर्थ्य, योग्यता, विवेक आदि सब प्रभु के ही दिए हुए हैं। परन्तु जो प्रभु की देन का आदर करता है, वह विचारक है और जो सब का आश्रय छोड़कर एक मात्र प्रभु की शरण ग्रहण करता है, वह श्रद्धालु है।

प्रश्न—प्यार कैसे किया जाए?

उत्तर—देखो तो प्यार से, बोलो तो प्यार से, सुनो तो प्यार से। हर कार्य को प्यारे का जानकर प्यार से करो। यही प्यार करने का सुगम उपाय है।

प्रश्न—वस्तुओं की प्राप्ति का क्या उपाय है?

उत्तर—प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से वस्तुओं की प्राप्ति होती है। कामी और संग्रही से वस्तुएँ बहुत दुखी होती हैं। और जो उनका सदुपयोग करता है, उसके पास आने के लिए वे लालायित रहती हैं।

प्रश्न—मानव की क्या विशेषता है?

उत्तर—वह देखे हुए सुन्दर सुहावने जगत् को नापसन्द कर, सुने हुए प्रभु पर बिना किसी शर्त के अपने को न्यौछावर कर सकता है।

प्रश्न—सबसे बड़ी बुराई क्या है?

उत्तर—पराधीनता को पसन्द करना सबसे बड़ी बुराई है। पराधीन बने बिना कोई भी सुख-भोग कर नहीं सकता। अत: पराधीनताजनित सुख

का भोग सबसे बड़ी बुराई है, जिसका जन्म, जो अपना नहीं है, उसको अपना मानने से और जो अपना है, उसे अपना न मानने से होता है।

प्रश्न—बुराई-रहित होने का क्या उपाय है?

उत्तर—ईश्वर के नाते सभी को अपना मानना बुराई-रहित होने का सुगम उपाय है, क्योंकि अपनों के साथ कोई बुराई नहीं करता।

प्रश्न—भय और दरिद्रता का नाश कैसे हो?

उत्तर—ममता छोड़ने से भय का और कामना छोड़ने से दरिद्रता का नाश हो जाता है।

प्रश्न—अमर जीवन की प्राप्ति का सरल उपाय क्या है?

उत्तर—मरने से डरो नहीं और कुछ चाहो नहीं, तो मरने से पहले अमर जीवन मिलेगा—इसमें सन्देह नहीं है। इस सन्त-वाणी पर अगर विश्वास कर सको, तो कर लो।

देखो, जब हम असमर्थ थे, तब भी किसी ने शरीर की रक्षा की थी। जब कुछ सामर्थ्यवान हुए, तब सामर्थ्य के बदले शरीर की रक्षा हुई और जब बुढ़ापे में असमर्थ होंगे, तब भी कोई इस शरीर की रक्षा करेगा।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि यदि कोई इस शरीर की रक्षा नहीं करेगा और इसका नाश हो जाएगा, तो क्या खाते-खाते इस शरीर का नाश नहीं होगा? यदि बिना खाए नाश हो जाए, तो क्या हर्ज की बात है? इसलिए यदि अमर जीवन चाहते हो, तो मरने से डरो नहीं, और कुछ चाहो मत।

प्रश्न—साधना के लिए क्या करें?

उत्तर—ईमानदारी की बात है—कुछ न करें। पहली बात तो यही है। दूसरी बात है—बुराई न करें। तीन-भलाई का अभिमान न रखें। चार-अपना हक न माँगें। पाँच-स्वाधीन हो जाएँ। छः उदार और प्रेमी हो जाएँ।

सच्ची बात यह है कि यदि आप बिना कुछ किए रह सकते हैं, तो आप दुनियाँ के बहुत बड़े आदमी हैं। क्योंकि करने का आरम्भ देहाभिमान से होता है। देहाभिमान भूल से होता है। अगर बिना कुछ किए नहीं रहा जाता, तो कम-से-कम बुराई न करो तथा जो नहीं कर सकते हो, सो नहीं करो। शेष क्या रहेगा? जो करना चाहिए और जो कर सकते हो—उसे पूरा करो।

जब तक हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ साधन रूप नहीं होतीं, तब तक प्रवृत्ति के अन्त में सहज आने वाली निवृत्ति प्राप्त नहीं होती। सहज निवृत्ति की अनुपस्थिति में आध्यात्मिक जीवन, भगवत् प्राप्ति, शान्ति और मुक्ति की बात अर्थहीन है। ये बातें चाहने वाले साधक को सर्वप्रथम सहज निवृत्ति आनी चाहिए। यह सही प्रवृत्ति से आती है प्रवृत्ति-त्याग से नहीं।

यदि प्रवृत्ति छोड़ने से निवृत्ति आती, तो सुषुप्ति और समाधि में कोई भेद ही नहीं रहता। इसमें भारी भेद है। सुषुप्ति में कर्म का बीज रहता है, समाधि में नहीं। यहाँ सहज समाधि से तात्पर्य है, न कि अभ्यास से प्राप्त समाधि से।

सहज समाधि तो कार्य के अन्त में स्वत: प्राप्त होती है। इसमें काम का बीज ही नहीं रहता। जब काम का बीज ही नहीं रहता, तो उसमें परिच्छिन्नता रह नहीं सकती। जब परिच्छिन्नता नहीं रहती, तो भेद और भिन्नता कैसे रहेगी?

इस दृष्टि से विचार करने पर हमारा सारा जीवन, हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति साधन रूप हो। वह कब होगी? जब हम अपने जानते वह न करें, जो नहीं करना चाहिए। ज्ञान का प्रकाश मनुष्य मात्र में समान रूप से उपस्थित है।

इसलिए महानुभाव! आप सचमुच अपने ज्ञान पर भरोसा कीजिए। अगर आप साधन करना चाहते हैं, तो निर्णय कीजिए कि मैं ज्ञान का अनादर

कभी नहीं करूँगा, श्रद्धा का विकल्प कभी नहीं खोजूँगा, बल का दुरुपयोग कभी नहीं करूँगा। ये निर्णय करने की बातें हैं और इन तीनों बातों के लिए भगवान् ने आपको शक्ति दी है और इन्हीं से आपकी संज्ञा 'साधक' होती है। साधना की बात साधक के सामने आती है, प्राणी के सामने नहीं आती।

प्रश्न—कामना पूरी नहीं होती, तब दुःख होता है, और कामना उत्पन्न हो जाए, तब दुःख होता है। क्या करें?

उत्तर—कामना के पूरी होने पर तुरन्त जो थोड़ा सा सुख मालूम होता है, वह दूसरी कामना को जन्म दे जाता है। दशा वही रहती है।

एक सत्य घटना है—बहुत दिन पहले मैं मधुकरी (भिक्षा) माँगने गया था। जिस घर में गए वहाँ सब लोग बहुत खुश थे। हमें कौतुहल हुआ कि आज ये लोग इतने खुश क्यों हैं? पूछने लगे हम। तो वे बोले ही नहीं, हँसते ही रहे। एक लड़की ने कहा—वाह स्वामी जी, आपको मालूम नहीं क्या? हमारे कृष्णा भाई साहब बी० ए० पास हुए हैं, अभी-अभी तार आया है। इसीलिए सभी लोग खुश हैं। अब मैंने सभी से पूछना शुरू किया कि इस वक्त जो आप खुशी अनुभव कर रहे हैं, यह कल तक रहेगी क्या? यदि यह बी० ए० पास होने की खुशी है, तो कल बी० ए० फेल थोड़े ही हो जाएगा? अब वे लोग चुप। बोले कैसे? मैंने उसके बाद फौरन पूछा—डिविजन अच्छा है कि नहीं? एम० ए० में प्रवेश हो सकता है कि नहीं? नौकरी मिल सकती है कि नहीं? कम्पटीशन की तैयारी करे, क्या करे? सब लोग चुप हो गए। मैंने कहा—देखो, अनेक इच्छाओं में जब एक पूरी होती है, उस खुशी का तुम वर्णन नहीं कर सकते। तो फिर जिसकी कोई भी इच्छा नहीं हो उसके आनन्द की कोई सीमा है? इससे सब समझ में आ जाता है कि निष्काम होना आवश्यक है।

प्रश्न—स्वामी जी! घर-गृहस्थी में रहकर भी प्राणी अचाह हो सकता है क्या?

उत्तर—हाँ, हो सकता है, सेवा और कर्त्तव्य से। कर्त्तव्य का पालन करे, दुःखी जनों की सेवा करता रहे—यथाशक्ति। देखो, अचाह होने के लिए काम नहीं छोड़ना है। काम को परिवार, समाज, संसार और परमात्मा का मान कर करो और काम समाप्त होने पर शान्त हो जाओ।

काम अपने लिए मत करो, परिवार के लिए समाज की सेवा करो और शरीर के लिए परिवार की सेवा करो। समाज को हानि पहुँचा कर परिवार को पालो मत। परिवार को दुःख देकर शरीर को सुख पहुँचाओ मत। गृहस्थ में ही कर्त्तव्य का प्रश्न है, विरक्त में नहीं।

कर्त्तव्य अचाह होने में सहायक है, बाधक नहीं। अचाह होना कर्त्तव्य में सहायक है, बाधक नहीं। भाव बदल दो, इरादा बदल दो। अपने सुख के लिए मत करो, दूसरों के हित के लिए करो। यदि दूसरों के सुख के लिए कठिनाई भी हुई, तो भी आनन्द ही मिलेगा। यह जीवन का विज्ञान है। इसलिए विवेकी जन उस सुख को नहीं पसन्द करते, जिसमें दूसरों को दुःख हो। उस दुःख को पसन्द करते हैं जिसमें दूसरों को सुख हो।

प्रश्न—स्वामी जी! जब गृहस्थ में सब कुछ है, फिर आदमी इसे छोड़कर जंगल में क्यों जाते हैं?

उत्तर—जाते हैं कमजोरी मिटाने के लिए। जंगल में जाकर जंगल में ही रह जाते हैं क्या? समाज में नहीं आते हैं क्या? यह तो जीवन-विभाजन के लिए हैं।

प्रश्न—सहज समाधि का क्या अर्थ है?

उत्तर—सहज क्या? समाधि तो सहज ही होती है, असहज होती ही नहीं। इन्द्रियाँ विषय-विमुख हों, तो मन निर्विकल्प हो। मन के निर्विकल्प होने से सहज समाधि हो जाती है। यह तो योग की चर्चा है।

प्रश्न—जीवन में शान्ति कैसे आए?

उत्तर—शान्ति लाना है तुमको तो अपने पर भरोसा करो, सत्य को स्वीकार करो। अपने में, प्रभु में तथा कर्त्तव्य में विश्वास करो। सुख-भोग से ऊपर उठो।

प्रश्न—मृत्यु का क्या अर्थ है?

उत्तर—जीवन के दर्शन से मनुष्य-शरीर के तीन भाग होना सिद्ध है। ये हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। सूक्ष्म शरीर इच्छाओं का पुंज है। जब प्राण-शक्ति खर्च हो जाती है और इच्छा-शक्ति शेष रहती है, इसी स्थिति का नाम मृत्यु है। प्राणशक्ति के घट जाने को मृत्यु कहते हैं। प्राणशक्ति का मूल विराट है—सूर्य।

प्रश्न—सेवा क्या है?

उत्तर—सेवा त्याग और प्रेम की भूमि है। सेवा का असली मूल मन्त्र क्या है, जो सभी के लिए अनिवार्य है? एक होता है—पुण्य कर्म, एक होती है, सेवा। सेवा के चार रूप हैं—1. विश्व सेवा, 2. शरीर, परिवार, समाज सेवा, 3. अपनी सेवा, और 4. प्रभु की सेवा।

विश्व सेवा-किसी को बुरा नहीं समझूँगा, किसी का बुरा नहीं चाहूँगा, किसी की बुराई नहीं करूँगा।

यह सेवा हर भाई-बहन कर सकते हैं। मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने पर संसार हमें पसन्द करेगा। हम बुराई-रहित होने से भले हो जाएँगे, तो भलाई होने लगेगी। जब वह भलाई होने लगे, तो उसका फल मत माँगना। तब आप अचाह हो जाएँगे, अपने में सन्तुष्ट हो जाएँगे। उसका भोग न करने से प्रभु के प्रति प्रेम, जगत् के प्रति उदारता और अपने लिए स्वाधीनता प्राप्त होगी। ये तीनों तत्त्व अविनाशी हैं।

ज्ञान-विरोधी, सामर्थ्य-विरोधी काम मत करो। यह बड़ी भारी सेवा होगी। अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं हो, भूल की उत्पत्ति नहीं हो। स्कूल, अस्पताल खोलना सेवा नहीं है। यह तो संग्रह का प्रायश्चित है।

प्रश्न—ध्यान कैसे किया जाता है? ध्यान पर बैठ जाते हैं, पर मन लगता नहीं है।

उत्तर—मैं निवेदन करता हूँ कि जब तक ध्यान करेंगे, तब तक ध्यान कभी होगा ही नहीं। कुछ दिनों पूर्व एक अमेरिकन पादरी मेरे पास आश्रम में आया था। उसने कहा कि मुझे मेडिटेशन (ध्यान) के सम्बन्ध में कुछ बताएँगे? मैंने कहा—'नहीं'। क्यों? तुमसे होगा नहीं।

विचार कीजिए, प्यास लगी है, तो पानी के ध्यान का मूल कारण हुआ—"प्यास"। आपको अपने परिवार का ध्यान आता है, इसका मूल कारण है, अपनापन।

तो आवश्यकता और अपनापन ध्यान का मूल है। आँख बन्द करके बैठना ध्यान का मूल नहीं है। यह तो बैठने की नहीं, अनुभव करने की बात है।

प्रश्न—स्वामी जी! वास्तविक सेवा शरीर से कैसे होगी?

उत्तर—शरीर से हमारा काल्पनिक सम्बन्ध है। किसी को प्रेरणा देकर या आदेश देकर भी शरीर से काम लिया जा सकता है। बहुत से काम शरीर से होते हैं और हम समझते हैं कि हम कर रहे हैं।

देखिए, किसी को बुरा न समझना, यह बुद्धि का काम है। किसी का बुरा न चाहना, यह किसके द्वारा होगा? अपने द्वारा।

जब हम किसी का बुरा चाहेंगे नहीं, समझेंगे नहीं, तो शरीर के द्वारा जो नहीं करना चाहिए वह नहीं होगा। शरीर द्वारा जो नहीं करना चाहिए वह इसलिए कर बैठते हैं कि हम दूसरों को बुरा समझते हैं, बुरा चाहते हैं, बुराई करते हैं।

मैं ऐसा मानता हूँ कि बुराई-रहित होना सबसे बड़ी सेवा है। मेरा धर्म बुराई-रहित होना तथा शरीर का उपयोग-भलाई करना। जिस परिवार और समाज में शरीर जन्म लेता है, इसका पालन-पोषण होता है, उस परिवार, समाज और संसार के अहित में शरीर का उपयोग नहीं करना है।

वाणी से कटु मत बोलो, सेवा हो गई। अहितकर नहीं बोलोगे, तो हितकर बोलोगे। अनावश्यक न बोलोगे, तो आवश्यक बोलना, कहना, समझना, सब शरीर के द्वारा ही होगा। पर इस तरह शरीर का उपयोग दूसरों के अहित में नहीं होगा।

अहित में कब होगा? अपने सुख के लिए शरीर को काम में लेने से। अर्थ यह है कि शरीर का उपयोग अपने सुख-भोग में नहीं करना है। शरीर की सेवा क्या है? आहार-विहार का संयम, सदाचार व मर्यादा पूर्वक चलना।

देखिए! कोई चीज "मैं" होती है। कोई चीज 'मेरी' होती है। शरीर मेरा भी नहीं है, "मैं" भी नहीं है—यह ज्ञान से सिद्ध हुआ। लेकिन शरीर का उपयोग आप करते हैं कि नहीं? आप शरीर से अकर्त्ता हो जाएँ, अभोक्ता हो जाएँ। असंग होना भी सेवा हो गई। असंग होने से क्या होगा? जिन चीजों पर आप अपना अधिकार मानते थे, उनसे अधिकार हटा लिया, तो वे चीजें समाज की हो गईं और आपको निर्विकारता मिल गई।

बुराई-रहित होना, भलाई का फल और अभिमान छोड़ना, यह कर्त्तव्य-क्षेत्र की बात है। आपको राग-द्वेष रहित होना चाहिए। मनुष्य के जितने झगड़े होते हैं, वे राग-द्वेष के कारण हैं। राग-द्वेष तभी तक रहता है, जब तक दूसरों का अधिकार देते नहीं, अपना छोड़ते नहीं। शरीर कर्त्ता नहीं है, शरीर कर्म-सामग्री है।

आत्मा शब्द सुना है, परमात्मा शब्द सुना है। शरीर को देखा है। आत्मा में कोई प्रश्न नहीं है। अनात्मा में भी कोई समस्या नहीं है। आप स्वयं न आत्मा हो, न अनात्मा।

प्रश्न—इच्छाओं की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर—इच्छाओं की निवृत्ति करना है, तो सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं का निरीक्षण करना चाहिए। उत्पन्न हुई इच्छाओं में से जो ऐसी इच्छाएँ हैं

कि जिसका 1. सम्बन्ध वर्तमान से हो, 2. जिनको हम किए बिना किसी प्रकार रह नहीं सकते, 3. जिनकी पूर्ति के साधन प्राप्त हों और 4. जिनसे किसी का अहित न हो, उन इच्छाओं की पूर्ति कर लेनी चाहिए। परन्तु ध्यान रहे—उनकी पूर्ति का सुख हमें अभीष्ट नहीं है। सुख लेते रहेंगे, तो पुनः इच्छाएँ उत्पन्न होंगी और चक्र चलता ही रहेगा। जिन इच्छाओं में ये बातें न घटती हों, उनका त्याग विचारपूर्वक करना होगा।

प्रश्न—साधु माने क्या है?

उत्तर—साधु संसार के बाहर तो चले नहीं जाते, संसार से सम्बन्ध अवश्य तोड़ देते हैं। शरीर को गंगा में तो नहीं फेंक देते, शरीर से सम्बन्ध अवश्य तोड़ देते हैं। साधु वह, जो संसार से सम्बन्ध तोड़ दे, चाहे घर में रहकर, चाहे वन में जाकर। साधु वह, जो किसी को हानि न पहुँचाए, जो प्रभु को पसन्द करे। मानव-सेवा-संघ ने प्रकाश दिया है—हे मानव! किसी को हानि मत पहुँचाओ, किसी को बुरा मत समझो और यथाशक्ति जिस परिवार में, जिस समाज में रहते हो, उसके काम आओ। तो साधु माने साधक है, क्योंकि—

1. हमें संसार की सेवा करना है।
2. हमें प्रभु का प्रेमी होना है।
3. हमें अचाह होना है।

प्रश्न—स्वामी जी! संयमी कौन है?

उत्तर—जो सुनने वालों की प्रसन्नता के लिए बोलता है।

जो मिलने वालों की प्रसन्नता के लिए मिलता है।

जो खिलाने वालों की प्रसन्नता के लिए खाता है।

जिसकी आँखें रूप की सार्थकता के लिए देखती हैं।

जिसके कान शब्द की सार्थकता के लिए सुनते हैं, और जिसकी नाक गन्ध की सार्थकता के लिए सूँघती है।

सभी क्रियाएँ इसी न्याय से हों, तब कर्त्ता पर क्रियाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। धारणा, समाधि स्वत: हो जाती है। यही संयम है।

प्रश्न—जीवन किसे कहते हैं और उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

उत्तर—जीवन उसे कहते हैं, जिसमें अभाव न हो, पराधीनता न हो और नीरसता न हो, जिसमें चेतना हो और जो प्रेम से भरपूर हो। ऐसा जीवन सभी भाई-बहनों को विश्राम के द्वारा वर्तमान में ही मिल सकता है।

प्रश्न—मन को वश में करने का क्या उपाय है?

उत्तर—1. मन के ऊपर से अपनी ममता का बोझ हटा लो।

2. अपनी पसन्द को बदल डालो। जहाँ मन लगाना चाहते हो, उसे पसन्द कर लो और जहाँ से मन को हटाना चाहते हो, उसे नापसन्द कर दो।

3. जरूरी काम को पूरा करो और गैरजरूरी काम को छोड़ दो।

4. जो नहीं करना चाहिए और जिसे नहीं कर सकते हो, उसको मत करो और जिसे करना चाहिए और जिसे कर सकते हो, उसे कर डालो।

5. केवल प्रभु को ही अपना मानो।

6. अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव करो।

मन शान्त तथा शुद्ध हो जाएगा और आपके वश में हो जाएगा।

प्रश्न—असंगता किसे कहते हैं और इसकी प्राप्ति के उपाय क्या हैं?

उत्तर—असंगता का अर्थ है—जगत् से अपने को अलग अनुभव करना। जो जगत् का द्रष्टा है, वह जगत् नहीं हो सकता। सेवा करने से स्थूल शरीर से, इच्छा-रहित होने से सूक्ष्म शरीर से और अप्रयत्न होने से कारण शरीर से असंगता प्राप्त होती है। तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होते ही योग की सिद्धि हो जाती है, जो बोध और प्रेम से ओत-प्रोत है।

प्रश्न—"काम" का क्या अर्थ है? और उसके नाश के क्या उपाय हैं?

उत्तर—वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्था के प्रति आकर्षण को 'काम' कहते हैं, अर्थात् 'नहीं' के आकर्षण का नाम ही काम है।

'नहीं' के अस्तित्व को अस्वीकार करने से और 'है' यानि प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करने से 'काम' का नाश हो जाता है और 'राम' मिल जाते हैं।

प्रश्न—साधन किसे कहते हैं?

उत्तर—जो साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता को मिटा दे, उसे साधन कहते हैं। उदारता, असंगता, प्रियता साधन के अर्थ में आते हैं। हर समय प्यारे प्रभु की याद बनी रहे, यही भक्ति-पथ की साधना है। हर समय अपने स्वरूप की याद बनी रहे, यही मुक्ति-पथ की साधना है। हर समय अपने कर्त्तव्य की याद बनी रहे, यही कर्त्तव्य-पथ की साधना है।

प्रश्न—सत्संग क्या है?

उत्तर—जीवन के सत्य को स्वीकार करना सत्संग है। बुराई-रहित होना, अचाह होना और प्रेमी होना सत्संग है। बुराई-रहित होने का उपाय है—किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मानना। अचाह होने का अर्थ है—अपना कोई संकल्प न रहना और प्रेमी होने का अर्थ है—केवल प्रभु से ही नित्य एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। इन तीनों बातों के करने में मानव-मात्र स्वाधीन है और वर्तमान में कर सकता है।

सभी को अपना मानने से निर्विकारता, किसी को अपना न मानने से निस्सन्देहता और सर्व समर्थ प्रभु को अपना मानने से निर्भयता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकारता से जीवन जगत् के लिए, निस्सन्देहता से अपने लिए और निर्भयता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है। यही जीवन की पूर्णता है।

प्रश्न—'रस' किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार का होता है?

उत्तर—अच्छा लगना रस का सूचक है। रस चार प्रकार के होते हैं—

1. भोग का रस—यह रस मानव को पराधीनता एवं जड़ता में आबद्ध करता है और उत्तरोत्तर घटता जाता है।

2. शान्ति का रस—यह रस सामर्थ्य का प्रतीक है।

3. स्वाधीनता का रस—यह रस अखण्ड होता है और एक तरह का होता है। यह बढ़ता नहीं।

4. प्रेम का रस—यह रस अखण्ड और अनन्त होता है और उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। यह नित्य नया होता रहता है।

प्रश्न—'मैं' का स्वरूप क्या है?

उत्तर—उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ही 'मैं' का स्वरूप है। उदारता से मानव जगत् के लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी होता है। उसे अपने लिए न जगत् से कुछ चाहिए, न प्रभु से। अतः चाह-रहित होकर मानव अपने लिए उपयोगी होता है।

प्रश्न—भौतिकवादी को विश्व-प्रेम क्यों नहीं मिला?

उत्तर—क्योंकि उसने सबको अपना नहीं माना।

प्रश्न—ईश्वरवादी को ईश्वर-प्रेम क्यों नहीं मिला?

उत्तर—क्योंकि उसने ईश्वर को ही अपना नहीं माना।

प्रश्न—अध्यात्मवादी को अपना प्रेम क्यों नहीं मिला?

उत्तर—क्योंकि उसने ममता और कामना छोड़ी नहीं।

प्रश्न—सच्ची भौतिकता क्या है?

उत्तर—हम संसार के लिए इतने उपयोगी हो जाएँ कि संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करने लगे और हमें संसार की जरूरत न रह जाए।

सच्ची भौतिकता आने पर आध्यात्मिक जीवन की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता में आस्तिक जीवन की सामर्थ्य आ जाती है और फिर जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है, जो मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

प्रश्न—ध्यान में स्वाभाविकता क्यों नहीं आती?

उत्तर—क्योंकि हम ध्यान करते हैं, इसलिए ध्यान में स्वाभाविकता नहीं आती। यदि सत्संग किया जाए, तो ध्यान स्वाभाविक हो जाएगा।

भगवान् को आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर अपना मानो। अपने को अपना अवश्य ही प्यारा लगेगा। उसकी याद भुलाने से भी नहीं भुलाई जा सकेगी। ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। तभी अपने में अपनी प्रियता की अभिव्यक्ति होगी और ध्यान अपने आप होने लगेगा।

प्रश्न—भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति का क्या अर्थ है?

उत्तर—संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करे—यह भौतिक उन्नति है। और हमें संसार की आवश्यकता न रहे—यह आध्यात्मिक उन्नति है।

प्रश्न—आस्तिक उन्नति का क्या अर्थ है?

उत्तर—हम ईश्वर के काम आ जाएँ और अपने लिए बदले में ईश्वर से कुछ न चाहें।

प्रश्न—पूर्ण विकास का क्या अर्थ है?

उत्तर—हम संसार और परमात्मा के काम आ जाएँ और बदले में दोनों से कुछ न चाहें।

प्रश्न—अविनाशी जीवन की लालसा कैसे जगे?

उत्तर—विनाशी जीवन की वास्तविकता का बोध होने पर अविनाशी जीवन की लालसा स्वत: जगेगी।

प्रश्न—नीरसता का नाश कैसे हो?

उत्तर—आवश्यक कार्य पूरी सामर्थ्य, योग्यता और ईमानदारी से पूरा करें और अनावश्यक कार्यों का त्याग करें। हर कार्य के आदि और अन्त में अपने आप आने वाली शान्ति को सुरक्षित रखो। शान्ति से नीरसता का नाश होता है। ऐसा करने से उदारता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वभाव से रसरूप है।

प्रश्न—सुख और रस में क्या अन्तर है?

उत्तर—सुख हमेशा कम होता जाता है और रस उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

प्रश्न—लोभ और मोह का नाश कैसे हो?

उत्तर—मिले हुए को अपना और अपने लिए न मानने से लोभ और मोह का नाश होता है। मोह का नाश होने से भय का नाश होता है और लोभ का नाश होने से दरिद्रता का नाश हो जाता है।

प्रश्न—मिले हुए को अपना न मानने का क्या अर्थ है?

उत्तर—मिले हुए के द्वारा सुख भोगने की आशा न रखना, अपितु उसके द्वारा दूसरों की सेवा करना।

प्रश्न—असंगता का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर—कर्त्तव्यपालन के फल और अभिमान को छोड़ना और बुद्धि की समता की शान्ति में रमण न करना ही असंगता का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न—स्तुति, उपासना और प्रार्थना का क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रभु के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार करना स्तुति है। प्रभु के अपनत्व को स्वीकार करना उपासना है। प्रभु प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना प्रार्थना है।

प्रश्न—भगवत्-प्राप्ति का सुगम उपाय क्या है?

उत्तर—भगवान् को पसन्द करना ही भगवत् प्राप्ति का सुगम उपाय है। सभी सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में, सभी विश्वासों को एक विश्वास में एवं सभी इच्छाओं को एक 'आवश्यकता' में विलीन कर देना भगवान् को पसन्द करने का अर्थ है।

प्रश्न—मैं जिसके प्रति उदारता दिखाता हूँ, वह स्वभाव से ही दूसरों के प्रति उदार नहीं होता, तो मेरे अन्दर उदारता की कमी होने लगती है। क्या उपाय किया जाए, जिससे मेरी उदारता में कमी न आए?

उत्तर—उदारता दिखाई नहीं जाती, वह तो मानव का स्वभाव है, जिसकी अभिव्यक्ति सत्संग द्वारा होती है। यदि किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लिया जाए, तो उदारता में कमी नहीं आएगी।

प्रश्न—मानव-सेवा-संघ के अनुसार साधन, भजन का अर्थ बताने की कृपा करें।

उत्तर—मानव-सेवा-संघ के अनुसार साधन, भजन सत्संग का फल है। मानव का पुरुषार्थ केवल सत्संग करने में है। सत्संग का अर्थ है—अपने जाने हुए सत्य को स्वीकार करना, ज्ञान के आधार पर अकिंचन या अचाह होकर अप्रयत्न हो जाना सत्संग है। आस्था के आधार पर सुने हुए प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व एवं अपनत्व को स्वीकार करके निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना सत्संग है। ज्ञान के आधार पर किए हुए सत्संग का फल साधन है और आस्था के आधार पर किए हुए सत्संग का फल भजन है।

प्रश्न—देह से तादात्म्य कैसे टूटे?

उत्तर—1. ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करने से कि "मैं शरीर नहीं हूँ, अथवा शरीर मेरा नहीं है"—देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।

2. सेवा करने से स्थूल शरीर से, इच्छा-रहित होने से सूक्ष्म शरीर से और अप्रयत्न होने से कारण शरीर से असंगता प्राप्त होती है।

तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होते ही देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।

प्रश्न—मन की चंचलता को कैसे रोका जाए?

उत्तर—मानव-सेवा-संघ के दर्शन के अनुसार मन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अपनी पसन्द के प्रभाव का समूह ही मन है। जिस चीज को हम पसन्द करते हैं, उसमें मन लग जाता है और जिसको नापसन्द करते हैं, उससे मन हट जाता है।

1. अत: मन को जहाँ लगाना चाहते हैं, उसे पसन्द कर लें और जहाँ से हटाना चाहते हैं, उसको नापसन्द कर दें। मन की चंचलता का भास तभी होता है, जब हम पसन्द तो संसार को करते हैं और मन भगवान् में लगाना चाहते हैं।

2. दूसरा उपाय यह है कि मन पर से अपनी ममता का भार हटाकर उसको भगवान् के हवाले कर दें। वे उसे शुद्ध, स्वस्थ एवं शान्त कर देंगे। फलत: मन की चंचलता समाप्त हो जाएगी।

3. मन एक दर्पण है जो वस्तु-स्थिति का बोध कराता है। मन को बुरा न समझें, न उसकी निन्दा करें, बल्कि विवेक के प्रकाश में अपनी वस्तु-स्थिति का अध्ययन करें और अपने में जो कमियाँ दिखाई पड़ें, उन्हें सत्संग के प्रकाश में दूर करने का उपाय करें। इससे भी मन की चंचलता दूर होती है।

4. जो नहीं कर सकते और जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से तथा जो करना चाहिए और कर सकते हैं, उसके कर डालने से मन शान्त हो जाता है।

प्रश्न—निकटवर्ती जन-समाज़ की यथाशक्ति, क्रियात्मक सेवा करने का क्या अर्थ है?

उत्तर—सेवा दो प्रकार की होती है—एक क्रियात्मक, दूसरी भावात्मक। भावात्मक सेवा असीम होती है और अपनी शक्ति के अनुसार जिन व्यक्तियों से अपना माना हुआ सम्बन्ध है, उनकी क्रियात्मक सेवा की जा सकती है। अत: जो समाज हमारे समीप है, यथाशक्ति उसकी क्रियात्मक सेवा करने की बात कही गई है। सबसे निकट हमारा शरीर है, उसके बाद परिवार के सदस्य अन्य सम्बन्धी, पड़ौसी इत्यादि आते हैं।

प्रश्न—साधक और साधन में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने का जो उपाय अपनाता है उसी का नाम साधन है। साधन की जरूरत तभी तक होती है, जब तक लक्ष्य पूरा नहीं होता। लक्ष्य की पूर्ति के पश्चात् साधन और साध्य में एकता हो जाती है।

प्रश्न—संकल्प-विकल्प से छुटकारा कैसे मिले?

उत्तर—ज्ञानपूर्वक इस वास्तविकता का अनुभव करें कि सभी संकल्प किसी के पूरे नहीं होते और कुछ संकल्प सभी के पूरे होते हैं। संकल्प-पूर्ति के बाद संकल्प-आपूर्ति ही शेष रहती है। अत: संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने से नवीन संकल्पों की उत्पत्ति नहीं होती और आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे होकर मिट जाते हैं।

प्रश्न—हम ईश्वर के होनेपन में आनन्द का अनुभव क्यों नहीं कर पा रहे हैं?

उत्तर—क्योंकि हमने ईश्वर को साध्य न मानकर, साधन मान रखा है। हम चाहते हैं कि ईश्वर हमारे सुख, सुविधा, सम्मान को सुरक्षित रखें। अत: ईश्वर को साधन न मानकर साध्य मानें और उनकी आवश्यकता अनुभव करें।

प्रश्न—वर्तमान का सबसे बड़ा सदुपयोग क्या है?

उत्तर—1. सत्संग को सुरक्षित रखना वर्तमान का सबसे बड़ा सदुपयोग है। हर कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही सत् का संग होता है। उसको पसन्द करें, उसकी आवश्यकता अनुभव करें और उसे सुरक्षित रखें।

2. उदारता, स्वाधीनता, शान्ति और प्रियता सत्संग का फल है। उदारता से मानव संसार के लिए, शान्ति और स्वाधीनता से अपने लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रकार मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाए, यही वर्तमान का सबसे अच्छा सदुपयोग है।

प्रश्न—मैं प्रतिदिन दो घन्टे परम्परागत ढंग से पूजा करता हूँ। घर वाले उसका विरोध करते हैं तथा उसमें बाधा डालते हैं। क्या किया जाए?

उत्तर—पूजा का वास्तविक अर्थ है—भगवान् के नाते और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए संसार की सेवा करना। जिस समय घर वाले आप से किसी काम की अपेक्षा करते हों और आप उसी समय पूजा में बैठ जाते हैं, तो उनका विरोध करना उचित ही है। अत: पूजा के वास्तविक अर्थ को अपना कर घर वालों की निष्काम भाव से सेवा करें। यदि विधिवत् पूजा करने का राग ही है, तो उसका समय जरूरी कार्य करने के पहले या बाद में रख सकते हैं।

प्रश्न—ममता क्या है? इससे छुटकारा कैसे मिले?

उत्तर—ममता सुख लेने का एक उपाय मात्र है। जिससे जितना ज्यादा सुख लोगे, उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा। अपना मानना ही ममता है। अपना न मानने का निर्णय कर लेने पर कुछ करना शेष नहीं रहता।

एक बड़ी रोचक बात बताएँ। हम अपने शरीर को अपना मानते हैं और इसे बहुत महत्त्व देते हैं। इसलिए संसार इसे महत्त्व नहीं देता। एक मिल्कियत के दो मालिक नहीं हो सकते। जो वस्तु प्रभु की हो जाती है, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है।

यह निर्णय करें कि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है या प्रभु अपने हैं। बस, काम चल जाएगा। दोनों में से एक अवश्य हो। यही पुरुषार्थ है। सत्संग पुरुषार्थ की परावधि है।

प्राप्त में ममता नहीं, प्राप्त का दुरुपयोग नहीं और अप्राप्त की कामना नहीं। बस, कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और स्थिरता आ जाएगी।

विचार की दृष्टि से वस्तु मेरी नहीं, कर्म की दृष्टि से वस्तु का दुरुपयोग नहीं और भाव की दृष्टि से सब कुछ प्रभु का है।

प्रश्न—स्वामी जी! पुस्तकों के नीचे आप अपना नाम क्यों नहीं लिखाते?

उत्तर—समष्टि शक्तियों द्वारा जिस सत्य की खोज हुई उनको छोड़कर अपना नाम लिखा दूँ?

प्रश्न—महाराज जी! सत्य की प्राप्ति में कितना समय लगता है?

उत्तर—जिसकी जितनी तीव्र आवश्यकता होती है, उसे उतना ही कम समय लगता है। जब आप भगवान् के बिना चैन से न रहेंगे, वे उसी समय मिल जाएँगे।

प्रश्न—स्वामी जी, प्रणव के उच्चारण का क्या लाभ होता है?

उत्तर—इन्द्रियाँ मन में विलीन होती हैं, मन की शक्ति बुद्धि में, बुद्धि अहम् में और अहम् अनन्त में विलीन हो जाता है।

प्रश्न—स्वामी जी, मन में बहुत विकार पैदा होते रहते हैं, क्या करूँ?

उत्तर—विकार पैदा नहीं होते, बल्कि विकारों की स्मृति उत्पन्न होती रहती है। उसका समर्थन मत करो।

प्रश्न—मेरी परिस्थिति आपसे छिपी नहीं है। मेरे हित की बात बताइए।

उत्तर—विवेकपूर्वक परिस्थिति के सदुपयोग में ही मानव का हित निहित है। जो जिस परिस्थिति में है, वह उसके सदुपयोग से मानवता प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—सदुपयोग कैसे करना चाहिए?

उत्तर—अपने को अधिकार-लालसा से रहित करके दूसरों के अधिकार की रक्षा करनी चाहिए।

प्रश्न—अधिकार-त्याग का क्या फल होता है?

उत्तर—अधिकार-त्याग से नवीन बन्धन नहीं होते और दूसरों के अधिकार दे डालने से विद्यमान बन्धन कट जाते हैं।

प्रश्न—बन्धन क्या है और कैसे टूटे?

उत्तर—लेना और देना ही बन्धन है। लेना बन्द करके देना दे डालने पर बन्धन जैसी कोई चीज रह ही नहीं जाती।

प्रश्न—लेने में क्या बुराई है?

उत्तर—लेने की रुचि ही नवीन राग की जननी है, जो पूरी न होने पर क्षोभित तथा क्रोधित कर देती है। क्षोभित तथा क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति हो जाती है।

प्रश्न—प्रभु की विस्मृति क्यों हो जाती है और कैसे मिटे?

उत्तर—प्रभु की विस्मृति मिटानी हो, तो आसक्तियाँ मिटानी होंगी। आसक्ति समस्त दोषों एवं विकारों की जड़ है।

प्रश्न—कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिए?

उत्तर—जो कार्य विवेक-विरोधी हो एवं जिसके पूरा करने की सामर्थ्य न हो, उसे नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—यदि कोई विवेक-विरोधी कार्य करने के लिए दबाब डाले, तो क्या किया जाए?

उत्तर—न्यायपूर्वक इन्कार करते हुए विनम्रता पूर्वक क्षमा माँग लेनी चाहिए। क्षमा माँगते हुए अपनी विवशता प्रकट करनी है, जिससे विपक्षी का अपमान भी न हो और न ही करने वाली बात करनी पड़े।

प्रश्न—आपने असत् के संग के त्याग से सत्संग की प्राप्ति बताई और कर्त्तव्य-पालन की बात कही। पर हमारा क्या दोष है कि जिससे हम ऐसा नहीं कर पाते?

उत्तर—अपने दोषों का पता लगाने के लिए जब रात को विश्राम करने जाएँ, तो सोचें कि हमने आज वह काम तो नहीं किया, जिसमें विवेक का विरोध हुआ हो, अथवा किसी का अनादर हुआ हो? इससे अपनी भूल का पता चलेगा। फिर जो भूल की हो, उसे पुन: न दोहराने का व्रत लेना चाहिए तथा यह भी निर्णय करना चाहिए कि मेरी प्रत्येक चेष्टा लोकहित के लिए होगी अर्थात् मैं न किसी को बुरा समझूँगा, न किसी का बुरा सोचूँगा और न किसी के साथ बुराई करूँगा।

प्रश्न—अपने को सर्वहितकारी मानने पर क्या हमें अभिमान नहीं होगा?

उत्तर—सर्वांश में सर्वहितकारी सिद्ध होने पर सर्वांश में निर्दोषता आ जाती है, जिसमें अभिमान की गन्ध भी नहीं होती।

प्रश्न—निर्दोषता आ गई, यह कैसे पता चले?

उत्तर—यदि निर्दोषता चाहते हो, तो निर्विकल्प हो जाओ। जैसे, बीज डालकर किसान बार-बार कुरेदकर नहीं देखता, वैसे ही हमें निश्चिन्त रहना चाहिए कि बुराई छोड़ने पर हम अवश्य निर्दोष हो जाएँगे।

प्रश्न—किसी का बुरा न चाहने से क्या लाभ होता है?

उत्तर—जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके बुरे संकल्प हमेशा के लिए मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही निर्विकल्पता आ जाती है। निर्विकल्पता शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की जननी है।

प्रश्न—महाराज जी! हमें जीवन में क्या करना चाहिए?

उत्तर—साधन।

प्रश्न—कृपया बताएँ, हम साधन कैसे करें?

उत्तर—साधन का ज्ञान हममें है। अपने कर्त्तव्य का ज्ञान तथा सामर्थ्य भी हममें है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करो। पर इसके लिए पहले सत्संगी बनना है।

प्रश्न—सत्संगी कैसे बनें?

उत्तर—असत् का त्याग करने से सत्संगी होते हैं।

प्रश्न—असत् किसे कहते हैं?

उत्तर—असत् वही है, जिसे आप अपने प्रति नहीं चाहते। सभी ईमानदार और व्यवहारकुशल साथी चाहते हैं। अतः हमको भी सभी के लिए ईमानदार तथा व्यवहारकुशल होना चाहिए।

प्रश्न—ईमानदार होते हुए भी यदि कोई बुरा समझे, तो क्या करें?

उत्तर—कोई हमें ईमानदार मानता है कि नहीं, इसकी चिन्ता मत करो। यदि अपने में कोई बुराई प्रतीत होती है, तो उसे दूर करने का प्रयत्न करो। यदि बुराई नहीं है, तो दूसरों की चिन्ता मत करो।

प्रश्न—भगवान् की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाए?

उत्तर—मनुष्य को भगवान् ने सुचारु रूप से कर्म करने के लिए क्रिया-शक्ति और विवेक-शक्ति दी है। परन्तु मनुष्य उनका सदुपयोग न

करके, दुरुपयोग करने लगता है। भगवान् तो इतने उदार तथा दयालु हैं कि जब उन शक्तियों का ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी वे हमारे अपराध की ओर ध्यान न देकर बार-बार शक्ति प्रदान करते रहते हैं। प्रभु की इस महिमा को यदि साधक समझ कर व्यथित हृदय से प्रार्थना करे, तो साधक को बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाए।

प्रश्न—भगवान् की अहैतुकी कृपा सब पर सदैव है, इसका अनुभव कैसे हो?

उत्तर—जिस साधक को अपने बल और पुरुषार्थ पर भरोसा है और जो यह समझता है कि अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शक्ति के बल पर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा, उसे भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता।

भगवत्कृपा का अनुभव उस साधक को होता है, जिसको उनकी कृपा पर पूर्ण विश्वास होता है। जो हर समय, हरेक परिस्थिति में उनकी कृपा की ही बाट जोहता रहता है और जो यह मानता है कि मुझे जो विवेक मिला है, वह भगवान् का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य समस्त साधन-सामग्री उन्हीं की है और उन्होंने ही कृपा पूर्वक इनका सदुपयोग करने के लिए ही मुझको दी है।

इस प्रकार जो साधक अपने को भगवान् की कृपा का पात्र मानता है, उसे भगवत्कृपा का अनुभव अवश्य होता है।

प्रश्न—मन की एकाग्रता कैसे हो?

उत्तर—मन की एकाग्रता के उपाय साधकों की रुचि, योग्यता और विकास के भेद से अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् राग का अभाव है। अभ्यास द्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, चंचलता में बदल जाती है।

दूसरा उपाय है, सर्व इच्छाओं का अभाव। जब सभी इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है, तब मन की स्वाभाविक एकाग्रता प्राप्त होती है। वह सदैव टिकती है।

तीसरा उपाय है, मन की चंचलता की व्यथा से व्यथित होना। जब मन की एकाग्रता के बिना चैन नहीं पड़ता, तब मन अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो मन की एकाग्रता को वर्तमान जीवन का मौलिक प्रश्न बना लेता है और उसे हल बिना किए चैन से नहीं रहता, उसका भी मन एकाग्र हो जाता है।

प्रश्न—जब साधक का देहाभिमान सर्वथा गल जाता है और उसका हृदय विशुद्ध प्रेम से भरा रहता है, तब उस साधक के दैनिक व्यवहार में क्या अन्तर आ जाता है?

उत्तर—उस साधक की प्रवृत्ति दूसरों की प्रसन्नता के लिए होने लगती है। लोक-व्यवहार में शत्रु-मित्र सभी के साथ समान प्रेम रखता है तथा अच्छा बर्ताव करता है। कर्म का भेद होते हुए भी उसके प्रेम में विषमता नहीं होती। अत: वह सभी का प्रिय हो जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सहज ही दूसरों का हित निहित रहता है, इसलिए सभी उससे प्यार करते हैं। उसका बाहरी आचरण सर्वप्रिय हो जाता है।

प्रश्न—जीते हुए मर जाना किसे कहते हैं?

उत्तर—प्राणों के रहते हुए शरीर और संसार से सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना है। यही जीते हुए मर जाना है।

प्रश्न—भगवत्-प्रेम चाहते हुए भी नहीं मिल पाता, इसके लिए क्या करें?

उत्तर—साधक को भगवत्-प्रेम से कभी निराश नहीं होना चाहिए। जिसको प्रेम की सच्ची चाह होती है, उसे प्रेम अवश्य मिलता है। प्रेम की

भूमिका अनेक प्रकार की होती है। प्रेम की कभी पूर्णता नहीं होती, इस कारण प्रेमी को हरेक अवस्था में प्रेम की कमी का बोध होता है। यदि साधक इस भाव से अपने में प्रेम की कमी का अनुभव करता है, तब तो ऐसी बात नहीं है कि उसको सदैव नित्य-नया रहने वाला प्रभु-प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। प्रेम अनन्त है, प्रेमास्पद भी अनन्त है और प्रेम की लालसा भी अनन्त है। जहाँ तीनों अनन्त हों, वहाँ पूर्णता कैसे हो?

यदि प्रेम की लालसा रहते हुए सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ, तो उसके लिए गहरी वेदना होनी चाहिए। वह वेदना अवश्य ही प्रेम की प्राप्ति करा देगी।

यदि प्रेम की चाह होते हुए भी तीव्र वेदना नहीं है, तो समझना चाहिए कि सद्‌गुण-सदाचार का रस जीवन में है। जब तक भोगों में रस प्रतीत होता है, तब तक तो प्रेम की सच्ची चाह ही नहीं होती। भगवत्-प्रेम का मूल्य सद्‌गुण या सदाचार नहीं है। पतित से पतित भी भगवान् का प्रेम प्राप्त कर सकता है, क्योंकि पतित-पावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं। वे दीन, हीन, पतित से भी प्यार करते हैं।

जब छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होने पर मनुष्य दुखी हो जाता है, फिर जिसको भगवत्-प्रेम की चाह है और प्रेम मिलता नहीं, तो वह चैन से कैसे रह सकता है? उसकी वेदना को किसी भोग, सद्‌गुण, सदाचार और सद्‌गति का सुख कैसे शान्त कर सकता है?

जो साधक केवल प्रभु को ही चाहते हैं, उनके प्रेम के भूखे हैं, जिन्हें किसी प्रकार के भोग, गुण, गति से रस नहीं मिलता और जिन्होंने सभी रसों का त्याग कर दिया है, उनको भगवान् अवश्य ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्रेमी अपने प्रेमास्पद से किसी प्रकार का सुख नहीं चाहता।

प्रश्न—स्वामी जी! प्राणी स्वाधीन है या पराधीन?

उत्तर—ईश्वर द्वारा दिए गए विवेक का आदर करते हुए प्राप्त बल का सदुपयोग करने में प्राणी सर्वथा स्वाधीन है। यह स्वाधीनता ईश्वर की दी हुई है। इसके सिवा प्राणी सर्वथा पराधीन है।

वास्तव में स्वाधीन उसी को कहा जा सकता है, जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करके सब प्रकार की चाह से रहित हो गया हो। क्योंकि किसी भी प्रकार की चाह को रखते हुए कोई भी प्राणी अपने को स्वाधीन नहीं कह सकता।

जब तक मनुष्य अपनी प्रसन्नता का हेतु किसी दूसरे व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि को मानता है, तब तक वह अपने जीवन में दीन-हीन और पराधीन ही बना रहता है।

प्राप्त विवेक का आदर करके अपने बनाए हुए दोषों को मिटाकर अन्तःकरण को शुद्ध करने में प्राणी सदैव स्वाधीन है।

प्रश्न—मनुष्य मरने से क्यों डरता है?

उत्तर—शरीर को "मैं" मान लेने के कारण तथा मृत्यु की महिमा न जानने के कारण ही मनुष्य मरने से डरता है।

प्रश्न—मृत्यु की महिमा क्या है?

उत्तर—उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु अर्थात् लय-तीनों अलग-अलग दीखते हैं। परन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है। बालक अवस्था का विनाश और किशोर अवस्था की उत्पत्ति की भाँति ही जवानी और बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओं का परिवर्तन हर समय होता रहता है। एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवन का कारण बनती है। यदि संसार में कोई न मरे, तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाए कि रहने के लिए पृथ्वी पर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाए कि कोई जीना पसन्द ही न करे।

अत: मृत्यु की भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्व की चीज है। एक शरीर का नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है।

प्रश्न—कुन्ती देवी सती मानी जाती हैं। किन्तु सूर्य आदि देवताओं के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने पर भी उनका सतीत्व अक्षुण्ण कैसे रहा?

उत्तर—उस समय आज-कल की सी परिस्थिति नहीं थी। उन लोगों को धर्म का ज्ञान था और धर्म-निष्ठा थी। स्त्रियों के मुख्य दो धर्म माने गए हैं—एक तो सती धर्म और दूसरा साध्वी धर्म। सती धर्म तो वह है, जिसमें पति को ही परमेश्वर मानकर सर्वस्व उसको समर्पण किया जाता है। साध्वी धर्म वह है, जिसमें परमेश्वर को ही पति मानकर उन्हें सर्वस्व समर्पण किया जाता है। मीरा, गोपियाँ आदि साध्वी धर्म का पालन करने वाली थीं।

कुन्ती देवी सती-धर्म का पालन करने वाली थीं। सती स्त्री का एक पति के सिवा और कुछ भी अपना नहीं रहता। वह शरीर, घर आदि किसी पर अपना अधिकार नहीं मानती। सब कुछ पति का मानती है। वह जो कुछ करती है, पति के लिए ही करती है। पति की प्रसन्नता और हित ही एकमात्र उसका लक्ष्य होता है।

कुन्ती के सामने परिस्थिति ऐसी थी कि शाप के भय से पाण्डु स्त्री-सहवास कर नहीं सकते थे। यदि करें, तो उनकी मृत्यु हो जाए। पाण्डु के मन में पुत्र की वासना थी। अत: उन्होंने उस वासना से प्रेरित होकर जब कुन्ती से अपने मन की बात कही, तब कुन्ती ने पहले तो पति को विनयपूर्वक धर्म का तत्त्व समझाने की चेष्टा की। उस पर भी जब उनकी वासना शान्त नहीं हुई, कुन्ती ने तब सब हाल कह सुनाया कि—"मुझे दुर्वासा से मन्त्र प्राप्त हुए हैं। उनके प्रभाव से मैं देवताओं को बुलाकर पुत्र उत्पन्न कर सकती हूँ।" इस पर पाण्डु ने आज्ञा दी कि तुम देवताओं से पुत्र उत्पन्न करो।

इस परिस्थिति में बिना किसी भोग-वासना के एकमात्र पति की प्रसन्नता के लिए कुन्ती ने उनकी आज्ञा का पालन किया। इससे उसका सतीत्व क्षीण क्यों होता? उसने तो जो कुछ किया, वह सती-धर्म का पालन किया। वह शरीर को अपना नहीं मानती थी। वह तो उस पर अपने पति का ही पूरा अधिकार मानती थी।

प्रश्न—स्वामी जी! भगवान् को अवतार क्यों लेना पड़ता है?

उत्तर—भगवान् को अवतार लेना पड़े, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वथा पूर्ण, सर्वशक्तिमान और स्वतन्त्र हैं। वे अपनी मौज से अवतार लेते हैं।

शास्त्रों में भगवान् के अवतार के तीन हेतु बताते हैं—(1) साधुओं का परित्राण, (2) दुष्टों का विनाश, (3) धर्म की स्थापना। इनमें से दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिए भी कर सकते हैं। यदि ये दोनों भगवान् के अवतार में खास कारण होते, तो इस समय भी भगवान् का अवतार होना चाहिए था। धर्म का ह्रास इस समय कम नहीं है और दुष्टों की भी कमी नहीं है।

यदि उनकी लीला पर विचार करें, तो मालूम होता है कि भगवान् का अवतार अपनी रसमयी लीला के द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिए और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिए ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उनका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भरा रहता है।

साधु वही है, जो भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, अपने जीवन को भगवत्परायण बनाने की साधना में लगा रहता है। किसी प्रकार का भेष बना लेने का नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, तो साधु पुरुषों के घरों में ही लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार पर ही विचार कीजिए। उनका प्राकट्य वसुदेव

जी के घर में और माता देवकी के उदर से हुआ। जो स्वयं-प्रकाश और सर्वत्र बसने वाला है, उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्मविद्या का नाम 'देवकी' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् उन साधु पुरुषों के घर जन्म लेते हैं, जो सर्वथा विशुद्ध और तत्त्वज्ञानी हैं। परन्तु उनको अपनी लीला का, अपने प्रेम का रस प्रदान नहीं करते।

अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करने के लिए वे यशोदा की गोद में पधारते हैं। जो यश यानि प्रेम-रस प्रदान करे, उसको 'यशोदा' कहते हैं और आनन्द का ही दूसरा नाम 'नन्द' है।

इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भक्तों को अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करके और उनके प्रेम-रस का स्वयं आस्वादन करके उन भक्तों को आह्लादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिए पूरा नहीं हो सकता।

भगवान् की एक-एक लीला में अनेक रहस्य भरे रहते हैं। वे एक ही लीला में बहुतों की लालसा पूरी करते हैं। उनकी प्रेममयी लीला का रहस्य बड़े-बड़े बुद्धिमान भी नहीं समझ पाते। औरों की तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्माजी को सन्देह हो गया।

अघासुर को मारकर श्रीकृष्ण भगवान् वन में अपने बाल सखाओं के बीच में बैठकर भोजन करने लगे, तो उस लीला को देखकर ब्रह्माजी चकित हो गए। वे सोचने लगे कि—"साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार ग्वालों के बालकों की जूठन खा सकते हैं। यह क्या है? यह बालक अपनी खाने की वस्तु दूसरे को देता है और दूसरे बालक की लाई हुई खाने की वस्तु को स्वयं ग्रहण करता है।"

इस मोह में पड़कर ब्रह्माजी भगवान् की परीक्षा करने के लिए बछड़ों को उठाकर ले गए। इधर बालकों का मन भगवान् से हट कर बछड़ों की ओर गया। वे बोले—"बछड़े दिखलाई नहीं दे रहे, कहीं दूर चले गए

हैं।" भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनका प्रेमी किसी और को देखे, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाए? अत: उन्होंने सखाओं से कहा—"मित्रों! तुम लोग यहीं रहो, अभी बछड़ों को ले आता हूँ।"

श्यामसुन्दर उधर गए और ब्रह्माजी उन बालकों को बेहोश करके वहाँ से उठाकर पर्वत की गुफा में रख आए। भगवान् से मन हटते ही ग्वालबालों को एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा।

इधर गायें तथा गोप-गोपियों के मन में यह लालसा बढ़ रही थी कि क्या कभी वे दिन आएँगे कि जब श्यामसुन्दर यशोदा मैया की भाँति हमारे स्तनों का दुग्धपान करेंगे और उसी प्रकार हमारी गोद में खेलकर अपनी प्रेममयी बाल-लीला का रस प्रदान करेंगे। उनकी उस लालसा को पूर्ण करने के लिए भगवान् स्वयं बालक एवं बछड़े बने। उन्होंने गायों को प्रेमरस प्रदान किया तथा उनका प्रेमरस दुग्धरूप में पान किया। गोप-गोपियों की गोद में खेलकर उनको पुत्र-स्नेह का रस प्रदान किया। एक वर्ष तक वे उस मधुर प्रेमरस का आस्वादन करते रहे।

जब ब्रह्मा ने देखा कि ब्रज का काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर पहले की भाँति ही उन ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे हैं और खेल रहे हैं तथा जिनको मैं चुरा लाया था, वे सब गुफा में सो रहे हैं, तब उनको भगवान् की महिमा का दर्शन हुआ और उनका समस्त अभिमान गल गया। भगवान् के चरणों में मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान् की उन्होंने स्तुति की।

एक ही लीला में भगवान् ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य का प्रदर्शन किया। यह काम बिना अवतार के कैसे हो सकता था? एक ओर ब्रह्मा के अभिमान का नाश, उसी के साथ-साथ ग्वालबालों को चेतावनी और गायों एवं गोप-गोपियों की प्रेम-लालसा की पूर्ति। यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है।

जब भगवान् श्रीकृष्ण छः दिन के हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुता का भाव दिखाया था। पूतना, जो घोर पापिनी और बालकों का नाश करने वाली थी, जब सुन्दर धाय का कपट वेष बना कर भगवान् के पास गई एवं मन में दूषित भाव रखकर ऊपर से प्रेम का भाव दिखाकर उनको गोद में लिया और अपना विष भरा स्तन श्यामसुन्दर के मुखारविन्द में दे दिया, तब भगवान् ने उसके मातृ-स्नेह की रक्षा करने के लिए तो उसका दूध पिया। क्योंकि वह उसके प्राण लेने आई थी, इसलिए दूध के साथ-साथ उसके प्राण भी पी लिए। भगवान् के स्पर्श से उसका कपट नाश हो गया और वह अपने असली रूप में आ गई। उसके सारे शरीर में सुगन्ध हो गई। भगवान् उसके शरीर पर खेलने लगे और उसे माता की गति प्रदान की।

इस प्रकार की लीला भगवान् बिना अवतार के कैसे कर सकते थे? उनकी हरेक लीला में अनन्त रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है। उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं।

भगवान् का अवतार नित्य है। उनका लीला-धाम, उनके माता-पिता, उनके सखा और सखियाँ सभी चिन्मय प्रेम से ही बने हुए हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। भगवान् के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रहता।

भगवान् के प्रेमी भक्तों का आज भी उनकी दिव्य लीला में प्रवेश होता है और वे उनके प्रेम-रस का आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान् का अवतार न होता, तो इसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

प्रश्न—स्वामी जी! गोपी-प्रेम क्या है और कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर—गोपी-प्रेम की बात वही कह सकता है, जिसको गोपी-भाव प्राप्त हो गया हो और सुनने का अधिकारी भी वही है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म या कारण, किसी भी शरीर में अहंभाव है, तब तक मनुष्य को गोपीभाव प्राप्त नहीं होता।

उद्धव जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्रीकृष्ण के सखा थे, जब ब्रज में गए, तब गोपियों के प्रेम को देखकर ज्ञान और योग को भूल गए। उल्टा अपने स्वामी और सखा श्रीकृष्ण को हृदयहीन और कठोर बताने लगे और उन गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करने लगे। यहाँ तक कि ब्रज के लता-पत्ता बनने में भी अपना सौभाग्य मानकर गोपियों की चरण-रज की कामना करने लगे। उन गोपियों के प्रेम को भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है?

जब तक मनुष्य का शरीर में अभिमान रहता है, तब तक उसको किसी-न-किसी प्रकार के संयोग-जनित सुख का लालच रहता है। गोपीभाव प्राप्त करने के लिए वस्तु के संयोग और क्रियाजन्य सुख की तो कौन कहे, चिन्तन और समाधि तक के सुख का भी त्याग करना पड़ता है। जब तक यह भाव रहता है कि अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थिति से सुख मिलेगा, तब तक मनुष्य उनका दास बना रहता है। उसके मन में दूसरों को सुख पहुँचाने का भाव उत्पन्न नहीं होता, अपने सुख-भोग की ही रुचि रहती है। यही स्वार्थ-भाव है। स्वार्थ-भाव के रहते हुए गोपी-भाव की बात समझ में नहीं आ सकती।

मानव-जीवन में सत्-असत् दोनों का संग रहता है। शरीर संसार और भोगों का संग ही असत् का संग है और अनन्त जीवन तथा नित्य आनन्द की लालसा ही सत् का संग है। जिसमें केवल असत् का संग है, वह भी मनुष्य नहीं है। क्योंकि असत् का संग तो पशुपक्षी आदि तिर्यक् योनियों में भी होता है। जिसमें केवल सत् का संग है, उसे भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह तो मनुष्यभाव से अतीत है।

अत: गोपीभाव प्राप्त करने के लिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले समस्त भोगों का संग विवेकपूर्वक छोड़ना पड़ता है, जो सत्संग से ही होता है।

सांसारिक सुख-भोग में क्या-दुःख है, इसकी असलियत का ज्ञान सुखभोग से उन साधकों को होता है, जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करते हैं। विवेक का आदर ही सत्संग है। इस सत्संग से सुखभोग की रुचि मिट जाती है और भगवान् के नित-नव प्रेम की लालसा उदित होती है। तब किसी-किसी अधिकारी को गोपीभाव की प्राप्ति होती है।

अतः जिस साधक को गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी लीला में प्रवेश करके गोपी-प्रेम की बात समझनी हो, उसे चाहिए कि देहभाव से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण भोगों की वासना का त्याग कर दे। जब भगवान् के प्रेम की लालसा समस्त भोगवासनाओं को खाकर सबल हो जाती है, तब साधक का प्रवेश उस ब्रज में होता है, जिसका निर्माण दिव्य प्रेम की धातु से हुआ है। जहाँ की भूमि, ग्वालबाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जड़ता और भौतिकभाव की गन्ध भी नहीं है। उस ब्रज में प्रवेश हो जाने के बाद भी गोपीभाव की प्राप्ति बहुत दूर है।

दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव के बाद कहीं गोपीभाव की उपलब्धि होती है। अतः साधक को गोपीभाव की प्राप्ति के लिए मुक्ति के आनन्द तक के लालच का त्याग कर, दिव्य ब्रज में प्रवेश करना होगा। उसके बाद भगवत्कृपा पर निर्भर होने पर गोपीभाव की प्राप्ति होगी।

प्रश्न—सत्य का स्वरूप क्या है?

उत्तर—सत्य का वास्तविक स्वरूप अनुभव करने के लिए असत्य का स्वरूप जान लेना परम आवश्यक है, क्योंकि जिसे रात्रि का ज्ञान नहीं होता, उसको भला दिन का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। अतः असत्य का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सत्य का अभिलाषी सत्य को जान सकेगा। जो असत्य को नहीं जान सकता, वह सत्य को भी नहीं जान सकता।

संसार का सभ्य समाज गुणों को सत्य और दोषों को असत्य कहता है, क्योंकि दोषों पर गुण शासन करते हैं—जैसे स्थिरता चंचलता पर,

सदाचार दुराचार पर, योग भोग पर, प्रेम द्वेष पर, चैतन्य जड़ पर और अहिंसा हिंसा पर। यदि यह विचार किया जाए कि गुण दोषों पर क्यों शासन करते हैं? तो इसका उत्तर यही होगा कि गुण दोष की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक हैं। जिस प्रकार आँख का देखना यदि स्वाभाविक ही रहे, अर्थात् उस क्रिया में कर्त्ता किसी प्रकार का भाव न बनाए, तो फिर देखना दोष नहीं कहा जाता। वह दोष तब बनता है, जब देखे हुए रूप से सुख प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यद्यपि सुख मिल नहीं सकता, परन्तु अविचार के कारण बेचारी आँख रूप में सुख की खोज करती है, इसलिए अन्त में दुखी होती है। और जिससे दुःख हो, वही दोष है।

इन्द्रियों की स्थिरता हो जाने पर चंचलता मिट जाती है। उस व्यक्ति को फिर संसार आदर की दृष्टि से देखता है और जो इन्द्रियों का संयम नहीं कर सकता, उसको संसार निरादर के भाव से देखता है। इसी नियम के अनुसार प्रत्येक गुण प्रत्येक दोष पर विजय प्राप्त कर लेता है। संसार को गुणयुक्त जीवन की सर्वदा आवश्यकता रहती है। यदि संसार में गुणयुक्त जीवन व्यतीत करना हो, तो गुणों का संग्रह करना परम आवश्यक है।

सत्य का वास्तविक स्वरूप गुण और दोष, दोनों से परे है, क्योंकि गुणों के आ जाने पर भी कमी शेष रहती है। अतः जो सब प्रकार से पूर्ण है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है, वही सत्य का स्वरूप है। सत्य के स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि कथन करने वाले सभी साधन अपूर्ण हैं। अपूर्ण कभी पूर्ण का कथन नहीं कर सकता। सत्य का स्वरूप व्यक्तित्व से अतीत है। सत्य अपने आपको प्रकाशित करता है।

प्रश्न—सत्य की आवश्यकता क्यों है?

उत्तर—आवश्यकता उस वस्तु की होती है, जिसके बिना किसी प्रकार न रह सकें। सभी महानुभाव स्थाई प्रसन्नता चाहते हैं। जब संसार की कोई अवस्था स्थायी प्रसन्नता नहीं दे पाती, तो उसका अभिलाषी संसार का त्याग करने के लिए मजबूर हो जाता है।

यदि विचारशील पुरुष अपनी अभिलाषाओं की जाँच करें, तो उनको यह भली प्रकार मालूम हो जाएगा कि अभिलाषाएँ केवल दो प्रकार की होती हैं—एक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए और दूसरी सब प्रकार से पूर्ण होने के लिए। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्म तथा संसार की आवश्यकता है।

संसार तथा कर्म की सहायता से पूर्णता किसी प्रकार नहीं मिल सकती, क्योंकि संसार की कोई भी अवस्था पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार गोल चक्र में चलने वाला पथिक कभी मार्ग का अन्त नहीं पाता, उसी प्रकार संसार की ओर जाने वाला कभी शान्ति तथा पूर्णता नहीं पाता। अत: स्थाई प्रसन्नता तथा पूर्णता के लिए सत्य की आवश्यकता होती है।

प्रश्न—सत्य की प्राप्ति का साधन क्या है?

उत्तर—सद्भावपूर्वक सत्य की अभिलाषा ही सत्य का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली सब छोटी मछलियों को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाती है। बस, उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है। सत्य की प्राप्ति के लिए किसी संगठन की आवश्यकता नहीं, बल्कि सभी संगठन मिटाने होंगे।

आपने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है, उसके अनुसार कर्म करो और अनावश्यक कार्यों का त्याग करो। जो आवश्यक कार्य पूरा नहीं करते और अनावश्यक कार्यों को हृदय में इकट्ठा रखते हैं, वे आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन करते रहते हैं।

आवश्यक कार्य क्या है? जिस कार्य के बिना न रह सको, जिसे करने का साधन प्राप्त हो तथा जिसके करने में किसी प्रकार का भय न हो, वही आवश्यक कार्य है। कर्त्ता अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर स्वयं उन्नति कर जाता है।

जीवन की परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, सत्य के अनुभव के लिए सभी मनुष्य समर्थ हैं। सत्य संसार की सहायता से नहीं मिल सकता। यदि गुणों का अभिमानी अपने गुणाभिमान को नहीं मिटा सकता, तो वह सत्य को नहीं पा सकता। यदि महान् पतित अपने पतित स्वभाव को मिटा देता है, तो वह सत्य को पा लेता है। जिसे संसार किसी प्रकार प्रसन्नता नहीं दे पाता, वह भी सत्य को पाकर अपार आनन्द पाता है।

व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग ही सत्य का साधन है। आप अपने में जो व्यक्तित्व अनुभव करते हैं, क्या आपने कभी उसे देखा है? तो आप यह कहने के लिए मजबूर हो जाएँगे कि हमने अपने व्यक्तित्व को सुनकर स्वीकार किया है, देखा नहीं है।

यदि यह कहो कि शरीर का व्यक्तित्व तो देखने में आता है। तो उसका उत्तर यही होगा कि शरीर तो संसार से अभिन्न है, उसमें आपका क्या? जिस शरीर को आप अपना समझते हैं, वह वास्तव में सारे संसार से एक है। शरीर तथा संसार अंग तथा अंगी के समान हैं। जिस प्रकार भारतवर्ष के अनेक प्रान्त भारतवर्ष से अभिन्न हैं, उसी प्रकार शरीर संसार से अभिन्न है।

अत: सुने हुए व्यक्तित्व को विचार रूपी अग्नि में जला दो। व्यक्तित्व के मिटते ही गुलामी का अन्त हो जाएगा और सत्य का मार्ग दिखाई देगा। सत्य का मार्ग इतना संकीर्ण है कि सत्य का अभिलाषी स्वयं अकेला ही जा सकता है। यहाँ तक कि मन, बुद्धि आदि तक का साथ छोड़ना होगा, क्योंकि संगठन को मिटाना ही सत्य का साधन है।

प्रश्न—सत्य का अधिकारी कौन है?

उत्तर—जिसको प्रसन्नता देने के लिए संसार असमर्थ है, अर्थात् जिसको भोग में रोग, हर्ष में शोक, संयोग में वियोग, सुख में दु:ख, घर में वन, जीवन में मृत्यु का अनुभव होता है, वही सत्य का अधिकारी है।

भोग करने से शक्तियों का ह्रास होता है। शक्तियों का ह्रास होने पर रोग बिना बुलाए आ जाता है, तब फिर भोग-कर्त्ता भोग करने के लिए असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर भोग से जो हर्ष हुआ था, उससे कहीं अधिक शोक आ जाता है। इसी दृष्टि से विचारशील हर्ष में शोक का अनुभव करते हैं। चाहे कैसा ही सुन्दर भोग क्यों न हो तथा समाज के भी नियम के अनुकूल हो और भोगने की शक्ति भी हो, फिर भी शक्तिहीनता होनी अनिवार्य है।

योग से शक्तियों का विकास होता है तथा भोगने से विनाश होता है। योग और भोग में केवल यही अन्तर है कि भोग के लिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों से सम्बन्ध होता है और योग के लिए विषयों का त्याग कर विषयातीत अनन्त सत्य से सम्बन्ध होता है।

योग और ज्ञान में केवल यही भेद रहता है कि योगी योगाभिमान के कारण परम-तत्त्व से अभिन्न नहीं हो पाता, इसलिए योगी में अनेक प्रकार की अद्‌भुत शक्तियाँ उद्‌भासित हो जाती हैं। भोग का अभाव होने पर योग अपने आप आ जाता है। योग स्वतन्त्र तथा भोग परतन्त्र है, क्योंकि योग के लिए संसार की ओर नहीं देखना पड़ता।

जिस प्रकार फलों की फसल खरीदने के लिए केवल फलों का दाम देते हैं और छाया बिना मूल्य ही मिलती है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर योग स्वत: हो जाता है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को योग की कोई आवश्यकता नहीं रहती, तथापि असंगता के कारण योग अपने आप होता है। अत: जिसे योग और भोग शान्ति नहीं दे पाते, वही सत्य का अधिकारी है।

प्रश्न—शरण की महिमा क्या है?

उत्तर—'शरण' सफलता की कुंजी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, भक्त का महामन्त्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दुखी की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि, प्रेमी को प्रेमपात्र, भक्त को भगवान, आस्तिक को आस्तिकता, दुखी को आनन्द, पतित को पवित्रता, भोगी को योग, परतन्त्र को स्वातंत्र्य, बद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता और मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।

प्रश्न—शरणागत होने से क्या लाभ है?

उत्तर—प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी के शरणापन्न रहता है। अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इच्छाकर्त्ता तो बेचारा प्रवृत्ति द्वारा केवल शक्तिहीनता ही प्राप्त करता है। अतः 'शरणागत' शरण्य की शरण हो, इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर, कृतकृत्य हो जाता है।

आवश्यकता उसी की होती है, जिसकी सत्ता है, और इच्छा का जन्म प्रमादवश आसक्ति से होता है, इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है, पूर्ति नहीं होती। साधारण प्राणी इच्छा और आवश्यकता में भेद नहीं जानते। परन्तु विचारशील जब अपने जीवन का अध्ययन करता है, तब इच्छा और आवश्यकता में भेद स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि आवश्यकता और इच्छा में भेद न होता, तो आस्तिकता उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि इच्छायुक्त प्राणी विषयसत्ता से भिन्न कुछ नहीं जानता।

प्रश्न—शरणागति भाव है, या कर्म?

उत्तर—शरणागत होते ही, सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। 'शरणागति' भाव है, कर्म नहीं। भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव

वर्तमान में ही फल देता है और कर्म भविष्य में। भावकर्त्ता भाव स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है, किन्तु कर्म संघटन से होता है।

संघटन अनेक प्रकार के होते हैं, क्योंकि अनेक निर्बलताओं का समूह ही वास्तव में 'संघटन' है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, अपने से भिन्न की सहायता की खोज करना 'संघटन' है।

प्रश्न—शरणागति कितने प्रकार की होती है?

उत्तर—शरणागति दो प्रकार की होती है—भेदभाव की तथा अभेदभाव की। भेदभाव की शरणागति शरण्य, अर्थात् प्रेमपात्र की स्वीकृति मात्र से ही हो सकती है। किन्तु अभेद-भाव की शरणागति शरण्य के यथार्थ-ज्ञान से होती है। अभेद भाव का शरणागत-शरणागत होने से पूर्व की निर्विषय हो जाता है, केवल लेशमात्र अहंता शेष रहती है, जो शरण्य की कृपा से निवृत्त हो जाती है। भेदभाव का शरणागत-शरणागत होते ही अहंता का परिवर्तन कर देता है, अर्थात् जो अनेक का था, वह एक का होकर रहता है।

शरणागत के हृदय में यह भाव, कि—"मैं उनका हूँ", निरन्तर सद्भावपूर्वक रहता है। यह नियम है कि जो जिसका होता है, उसका सब कुछ उसी का होता है तथा वह निरन्तर उसी के प्यार की प्रतीक्षा करता है। प्रेमपात्र के प्यार की अग्नि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शरणागत की अहंता उसी प्रकार तद्रूप होती जाती है, जिस प्रकार लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है। अहंता के समूल नष्ट होने पर भेदभाव का शरणागत भी अभेद-भाव का शरणागत हो जाता है।

भेदभाव का शरणागत भी शरण्य से किसी भी काल में विभक्त नहीं होता, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पिता के घर भी पति से विभक्त नहीं होती। भेद तथा अभेद भाव के शरणागत में अन्तर केवल इतना रहता है कि भेदभाव का शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकार के रसों का आस्वादन

करता है, और अभेद-भाव का शरणागत अपने में ही शरण्य का अनुभव कर, नित्य एक रस का अनुभव करता है। अनुभव का अर्थ उपभोग नहीं है। उपभोग तो संयोग से होता है। उपभोग-काल में कर्त्ता में भोक्ता-भाव शेष रहता है। परन्तु मिलन का रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भोक्ता की सत्ता मिटती जाती है। इसी कारण उपभोग-कर्त्ता कभी निर्वासना को प्राप्त नहीं होता। परन्तु शरणागत निर्वासना हो प्राप्त होता है। वासनायुक्त प्राणी शरणापन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि शरणागत में वासना शेष नहीं रहती।

यदि कोई यह कहे कि शरण्य की वासना भी वासना है। तो विचार दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि शरणागत की शरण्य आवश्यकता है, वासना नहीं; क्योंकि वासना का जन्म भोगासक्ति एवं प्रमाद से होता है और आवश्यकता भोगासक्ति मिटने पर जाग्रत होती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय एवं अन्धकार की निवृत्ति युगपत है, उसी प्रकार भोगासक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की जागृति युगपत् है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शरण्य की आवश्यकता वासना नहीं है। यद्यपि आवश्यकता की सत्ता कुछ नहीं, परन्तु प्रेमास्पद को न जानने की दूरी के कारण प्रेमपात्र की आवश्यकता के रूप में प्रतीत होता है, जिस प्रकार धन की आवश्यकता ही निर्धनता है। इसी कारण विरही शरणागत भक्त विरह के रस में मुग्ध रहता है।

शरणापन्न की सार्थकता तब समझनी चाहिए कि जब शरण्य शरणागत हो जाए। क्योंकि प्रेमी की पूर्णता तभी सिद्ध होती है, जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। प्रेमपात्र के प्रेमी होने पर प्रेमी प्रेमपात्र के माधुर्य से छक जाता है। शरण्य के माधुर्य का रस इतना मधुर है कि शरणागत शरणागत-भाव का त्याग न करने के लिए विवश हो जाता है। बस, यह भेद-भाव की शरणागति है। जब भेदभाव की शरणागति सिद्ध

हो जाती है, तब शरण्य शरणागत को स्वयं बिना उसकी रुचि के उसी प्रकार अपने से अभिन्न कर लेते हैं, जिस प्रकार चोर बिना ही इच्छा के दण्ड पाता है।

प्रश्न—शरणागत का वास्तविक जीवन और अभिनय क्या है?

उत्तर—शरणागत होने से पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भावों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है, अर्थात् विश्व शरणागत से न्यायपूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नता के लिए वही अभिनय करता है।

यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव नहीं होता, क्रियाभेद होने पर भी प्रीतिभेद नहीं होता। अभिनयकर्त्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसकी अभिनय में जीवन-बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है। बस, उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर उन्मुख हो जाता है।

प्रश्न—अनन्त शक्ति में विलीनता किस प्रकार होती है?

उत्तर—प्राकृतिक नियम के अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणी को स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है। यदि वह स्वतः आकर्षित न करती, तो प्राणी के सीमित प्यार को निरन्तर छिन्न-भिन्न न करती रहती। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त में उसी में विलीन हो जाती है। अतः अनन्त शक्ति से उद्भूत प्रेम की पवित्र धारा अनन्त शक्ति

ही में विलीन होगी। उसे वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में बाँधने का प्रयत्न व्यर्थ चेष्टा है। शरणागत-भाव होने पर प्रेम की पवित्र धारा शरण्य ही में विलीन होती है।

प्रश्न—अपने केन्द्र की शरणापन्नता क्या है?

उत्तर—प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अब विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है? केन्द्र वही हो सकता है कि जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य-जीवन, नित्य-रस एवं सब प्रकार से पूर्ण और स्वतन्त्र होने की है। अत: हमारा केन्द्र वही हो सकता है, जो सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है।

हम सबसे भारी भूल यह करते हैं कि अपने केन्द्र तक पहुँचने के पूर्व, मार्ग में अनेक इच्छाओं की पहाड़ियाँ स्थापित कर, स्वाभाविक प्रगति को रोक देते हैं, यद्यपि अनन्त शक्ति उन पहाड़ियों को उसी प्रकार प्यार पूर्वक छिन्न-भिन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करती है, जैसे माँ बालक को सिखाने का प्रयत्न करती है।

हम उस अनन्त शक्ति का विरोध करने का विफल प्रयास करते रहते हैं, यह परम भूल है। महामाता प्रकृति हमको निरन्तर यह पाठ पढ़ा रही है कि सीमित सत्ता अनन्तता के शरणापन्न होती है; जिस प्रकार नदी समुद्र की ओर और बीज वृक्ष की ओर निरन्तर प्रगतिशील है। कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है, जो निरन्तर परिवर्तन न कर रही हो, मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भाव में आबद्ध नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत् अपने परम स्वतन्त्र केन्द्र की ओर प्रगतिशील होना चाहिए, जो शरणागत होने पर सुगमतापूर्वक हो सकता है।

यह अखण्ड नियम है कि कोई भी भाव तब तक सजीव नहीं होता, जब तक कि वह विकल्प-रहित न हो जाए। जिस प्रकार बोए हुए बीज

को किसान बोकर विकल्प-रहित हो जाता है, अर्थात् बीज को बार-बार निकाल कर देखता नहीं है और न सन्देह करता है। तब बीज पृथ्वी से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है। उसी प्रकार शरणागत अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य सम्पन्न सत्ता से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है और सीमित स्वभाव को मिटाकर उससे अभिन्न भी हो जाता है। किन्तु उसका शरणागतभाव निर्विकल्प होना चाहिए; क्योंकि सद्भाव में विकल्प नहीं होता।

जो प्राणी उस अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य सम्पन्न नित्य-तत्त्व के शरणापन्न नहीं होते, वे बेचारे अनेक वस्तुओं एवं परिस्थितियों के शरणापन्न रहते हैं, जैसे, कामी कामिनी के, लोभी धन के, अविवेकी शरीर के। क्योंकि स्वीकृति मात्र से उत्पन्न होने वाली अहंता अनेक भावों में विभक्त होती रहती है। वह जब-जब, जिस-जिस भाव को स्वीकार करती है, तब-तब उसी के शरणापन्न होती है। सत्य के शरणापन्न होने वाला प्राणी अपने को स्वीकृति-जन्य अहंता से मुक्त कर लेता है।

प्रश्न—वास्तविक मानव-जीवन क्या है?

उत्तर—शरणागत की अहंता निर्जीव, अर्थात् भुने हुए बीज की भाँति केवल प्रतीति मात्र रहती है; क्योंकि उसमें से सीमित भाव एवं स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। जब प्राणी सीमित भाव एवं स्वीकृति को अपनी सत्ता मान बैठता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। गहराई से देखिए, यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति-मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार-जैसा अलौकिक तत्त्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत है। जैसे, देश के प्यार ने अन्य देशों पर, सम्प्रदाय के प्यार ने अन्य सम्प्रदायों पर, जाति के प्यार ने अन्य जातियों पर अत्याचार किया है, जो मानव-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने

से स्वीकृति-जन्य सत्ता के मिटते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। सीमित अहंभाव के नि:शेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

प्रश्न—शरणागति से शरणापन्नता, मानव-जीवन से ऋषि-जीवन कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर—शरणागत में मानव-जीवन स्वभावत: उत्पन्न होता है। जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है, तब ऋषि जीवन का अनुभव कर, अपने में ही अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।

प्रश्न—क्या शरणागति अभ्यास है?

उत्तर—शरणागति अभ्यास नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है। शरणागति भाव का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागतिमय हो जाता है, अर्थात् शरणागत केवल मित्र के लिए मित्र, पुत्र के लिए पिता, पिता के लिए पुत्र, गुरु के लिए शिष्य, शिष्य के लिए गुरु, पति के लिए पत्नी, पत्नी के लिए पति, समाज के लिए व्यक्ति और देश के लिए ही देशीय होता है। जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार—जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिए वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिए सब कुछ होते हुए भी, अपने लिए शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिए किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता, तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने आप प्रज्ज्वलित हो जाती है।

अत: शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता। गहराई से देखिए, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है, जिससे साधक विभक्त

न हो, क्योंकि संघटन से उत्पन्न होने वाला अभ्यास किसी भी प्रकार निरन्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एकरस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है, तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, एवं कभी शरण्य से अभिन्न हो जाता है। वह साधन पूर्ण साधन नहीं हो सकता, जिससे साधक विभक्त हो जाता है, क्योंकि पूर्ण साधन तो वही है, जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। अत: इस दृष्टि से शरणागति भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

प्रश्न—शरणागत शरण्य का शरण्य कैसे?

उत्तर—विचार दृष्टि से यह भली-भाँति सिद्ध होता है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। पतित-से-पतित अहंता भी शरणागत होते ही परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही अहंता में जो दोषयुक्त संस्कार अंकित थे, वे मिट जाते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के बिना बीज का उपजना असम्भव है, उसी प्रकार दोषयुक्त अहंता के बिना दोषयुक्त संस्कारों का उपजना असम्भव है। अत: यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पतित-से-पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है। जिस भाँति मिट्टी कुम्हार की शरणागत होकर, कुम्हार की ही योग्यता और बल से कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है, उसी भाँति शरणागत शरण्य के ही अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य से शरण्य के काम आ जाता है एवं उसका प्यार पाता है। यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेमपात्र हो जाता है। अत: इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। भला, इससे अधिक सुगम एवं स्वतन्त्र कौन सा मार्ग है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक साधक को शरण्य का शरण्य बना देता है।

प्रश्न—शरणागत में अभिमान क्यों नहीं रहता?

उत्तर—शरणागत में किसी भी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी अभिमान है। शरणागत दीन नहीं होता, क्योंकि

उसका शरण्य से पूर्ण अपनत्व होता है। अपनत्व और दासता में भेद है। दासता बन्धन का कारण है, और अपनत्व स्वतन्त्रता का कारण है। अपनत्व होने से भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता मिटते ही स्वतन्त्रता अपने-आप आ जाती है। भिन्नता का भाव उत्पन्न होने पर ही प्राणी में किसी-न-किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है। शरणापन्न होने पर अभिमान गल जाता है। अभिमान गलते ही भिन्नता एकता में विलीन हो जाती है। एकता होने पर भय शेष नहीं रहता। अत: शरणागत सब प्रकार से अभय हो जाता है।

प्रश्न—भिन्नता का नितान्त अन्त शरणागत में कैसे होता है?

उत्तर—भिन्नता 'द्वेष' और एकता 'प्रेम' है। ऐसा कोई दोष नहीं है, जो भिन्नता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो एकता से उत्पन्न न हो। अर्थात् सभी दोषों का कारण भिन्नता एवं सद्गुणों का कारण एकता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रवृत्ति भी सीमित अहंता के बिना नहीं हो सकती, परन्तु शरणापन्न होते ही प्रवृत्ति की आवश्यकता शेष नहीं रहती। अत: प्रवृत्ति नि:शेष हो जाती है। प्रवृत्ति का अभाव होते ही सीमित अहंता उसी प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार सूर्य की उष्णता से बर्फ गल जाती है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरणागत होने के अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है, जिससे भिन्नता का नितान्त अन्त हो जाए।

प्रश्न—शरणागत होने का अधिकारी कौन है?

उत्तर—शरणागत होने का वही अधिकारी है, जो वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने लिए नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की आवश्यकता का अनुभव करता है। जो प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति के साथ-साथ अपना भी मूल्य घटाता जाता है तथा अनुकूल परिस्थिति की आसक्ति में फँसता जाता है एवं जो परिस्थिति से हार स्वीकार करता है तथा लक्ष्य से निराश हो जाता है, वह न तो आस्तिक हो सकता है और न शरणागत।

स्वीकृति मात्र को ही अपने आप को समझ लेना, तात्त्विक दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। प्रेमपात्र में अपूर्णता का भास, अथवा अपने स्वीकृति-भाव में विकल्प का होना, आस्तिक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति का न होना, अथवा किसी भी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की ओर आकृष्ट होना, अथवा ऐसी प्रवृत्ति करना, जो किसी की पूर्ति का साधन न हो, व्यावहारिक दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है।

यद्यपि शरण निर्बल का बल है, परन्तु जो प्राणी हार स्वीकार कर लेता है, उसके लिए शरण असम्भव हो जाती है। निर्बल के बल का अर्थ केवल इतना ही है कि शरणागत बिना किसी अन्य की सहायता के, स्वयं केवल शरणागति-भाव से ही सफलता प्राप्त करता है। भाव करने में प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। जब शरणागत होने पर अहंता परिवर्तित हो जाती है, तब शरणागत का मूल्य संसार से बढ़ जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रसन्नता के लिए संघटन की ओर नहीं देखता। बस, उसी काल में शरणागत के जीवन में निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि सद्गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। शरणागत किसी भी गुण को निमन्त्रण देकर बुलाता नहीं है, और न सीखने का ही प्रयत्न करता है। अतः इस दृष्टि से अनेक विभागों में विभाजित अहंता को, 'मैं उनका हूँ', इस भाव में विलीन करना परम अनिवार्य है, जो शरणागति-भाव से सुगमतापूर्वक अपने-आप हो जाता है।

प्रश्न—शरणागत होने का अधिकार कब प्राप्त होता है?

उत्तर—जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का, जो अनन्त से प्राप्त हैं, सदुपयोग कर लेता है, और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव स्वतः उत्पन्न होता है।

हमको उस असीम सत्ता का असीम प्यार देखना चाहिए, जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकती। यह कैसा वैचित्र्य है कि जो विषय-सत्ता

हमारा निरन्तर तिरस्कार कर रही है, हम प्रमादवश उसी की ओर दौड़ते रहते हैं और जो असीम-सत्ता निरन्तर प्रेमपूर्वक हमें अपनाने का प्रयत्न करती है, हम उससे विमुख रहते हैं। विचारशील प्राणी को इस प्रमाद-युक्त दशा का नितान्त अन्त कर देना चाहिए, जो शरणागत भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है।

प्रश्न—आस्तिक दर्शन क्या है?

उत्तर—बिना जाने हुए भी सुने हुए ईश्वर को मान लेना आस्तिकवाद है। ईश्वरवाद विश्वास मार्ग है, विचारमार्ग नहीं। जिससे सारे जगत् की उत्पत्ति हुई है, जिसमें सारा जगत् है, जो सारे जगत् का प्रकाशक है, उसे जगत् नहीं जानता। ईश्वर के सम्बन्ध में सुना है, जाना किसी ने नहीं है। सुने हुए ईश्वर में सन्देह न करना आस्तिक दर्शन है।

प्रश्न—बिना बुद्धि लगाए अन्धविश्वास होगा?

उत्तर—विश्वास अन्ध ही होता है। इसमें विचार नहीं लगता। जब से लोगों ने विश्वास में विचार लगाना आरम्भ किया है, तब से एक ही ईश्वर को अनेक रूपों में परिणत किया है। किसी ने कहा साकार है, किसी ने कहा निराकार है, आदि-आदि। यह ईश्वर को अपने दिमाग की खुराक बनाना है। जिससे सारे जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो अनुत्पन्न है, उसको उत्पन्न हुई बुद्धि और मन जान नहीं सकते। जिसे जान नहीं सकते, उसे मानना पड़ता है।

"ईश्वर है"—यह आस्तिकवाद के साधन का प्रारम्भ है। "कैसा है?"—इसमें झगड़ा इसलिए पड़ता है कि हम संकीर्ण दृष्टि से ईश्वर की परिभाषा करते हैं।

"ईश्वर ऐसा ही है"—यही भ्रम है। इसी आधार पर ईश्वरवादी ईश्वरवादी से लड़ता है। "कैसा है?"—इसका निर्णय ईश्वर कर सकता है, आप नहीं कर सकते। प्रारम्भ में आपको ईश्वर का जो रूप अच्छा लगे,

वैसा मान लीजिए। आपका माना हुआ ईश्वर घटिया नहीं होगा। हम चाहे जैसे उसको पुकारें, वह हमारी भाषा पहचानता है। वे हम सब के स्वभाव, रुचि, भावना को पहचानते हैं। जब हम अपनी रुचि के अनुसार अपने को प्रभु-प्रेम में बदलते चले जाएँगे, तो अन्त में वही प्रभु प्राप्त होंगे, जो हैं।

किसी ने सगुण की उपासना की। किसी ने कह दिया—यह मस्तिष्क का विकार है। किसी ने निराकार की उपासना की। किसी ने कहा—निराकार की उपासना साकार कैसे करेगा। दोनों का ही चौपट होगा। अत: इस पर बहस मत करो कि ईश्वर कैसा है। 'ईश्वर है'—बस इतना मानो।

किसी भय अथवा प्रलोभन से अपने विश्वास में शिथिलता न आने दो। चाहे जो हो जाए, अपना विश्वास मत छोड़ो, क्योंकि तुम ईश्वरवादी हो। जाने हुए जगत् को ठुकरा कर सुने हुए ईश्वर को मान लो—यह ईश्वरवाद है।

ईश्वर की सत्ता मानने का अर्थ है कि हमें कुछ नहीं चाहिए। पर दु:ख की बात तो यह है कि हम कहते हैं कि 'भगवान् में मन नहीं लगता'। दस आवश्यकताएँ जीवन की हैं, ग्यारहवीं भगवान् की है, तब पूरा मन भगवान् में कैसे लगे? एक बटा ग्यारह ही न भगवान् में लगेगा। एक ओर मन को हम अपना कहते हैं, और फिर उसे भगवान् में लगाना चाहते हैं। यह धोखेबाजी चलने वाली नहीं है। मन हमारा रहकर त्रिकाल में भी भगवान् में नहीं लग सकता। ईश्वरवादी का तो मन, प्राण, शरीर, सब कुछ, सबका सब ईश्वर का है। उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। ईश्वर भी नहीं चाहिए। "मैं ईश्वर का हूँ, ईश्वर मेरा है"। मुझे अपने ईश्वर से कुछ नहीं चाहिए। ईश्वर के मन में आवे, तो मेरा जो चाहे सो करे—जन्म दे, नरक में भेजे, मिले, न मिले। जो कुछ भी चाहता है, वह ईश्वरवादी नहीं

हो सकता। जगत् की कौन कहे, मोक्ष को भी फुटबॉल बनाकर ठुकरा दे, तब ईश्वरवादी की लिस्ट में नाम लिखा सकता है।

ईश्वरवादी का साधन—1. सब ईश्वर का है। 2. सब में ईश्वर है। 3. और कुछ नहीं है, सब ईश्वर ही है। तीनों में से किस श्रेणी का अधिकारी आप अपने को मानते हैं? यह आप अपने आप सोच लीजिए।

ईश्वर अप्राप्त नहीं है, अदृश्य नहीं है। पर अप्राप्त (व्यक्ति, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति) का सम्बन्ध और अप्राप्त का विश्वास हमें प्रभु-प्रेम प्राप्त करने नहीं देता।

भगवान् में मन कैसे लगे? यह प्रश्न मत करो। भगवान् में विश्वास करो, उनसे सम्बन्ध मानो।

परन्तु हम तो ईश्वरवादी इसलिए हैं कि समाधि का सुख ले लें, संसार की वस्तु पाकर कृतकृत्य हो जाएँ। तो यह ईश्वरवाद नहीं है।

ईश्वर असमर्थ नहीं है, सब कुछ कर सकता है। परन्तु उसके कर्त्तव्य को सोचना ईश्वरवादी का काम नहीं है। ईश्वरवादी की निष्ठा तो यह है कि "ईश्वर चाहे निकम्मा हो, पर मेरा अपना है। मिले या न मिले, प्यार करे अथवा ठुकरा दे, पर वह मेरा है। वह चाहे जैसा हो, चाहे जहाँ हो, अनेक बार मिटा हूँ, एक बार उसके नाम पर और मिटूँगा, पर ईश्वर को नहीं छोड़ूँगा। वह मेरा है, उसे अवश्य मानूँगा"। ऐसा मानकर निश्चिन्त, निर्भय हो जाए। इससे आत्मीयता आएगी। सामर्थ्य, शान्ति, प्रियता सब कुछ आएगी।

प्रश्न—ईश्वरवादी कौन होता है?

उत्तर—एक वह होता है, जिसे दुनियाँ अपने से छोटी मालूम होती है। अपने में भी अपना सन्तोष न हो, इतना बड़ा आदमी ईश्वर को मानता है। दूसरा वह होता है जिसके जीवन में असमर्थता आ गई है, जो कुछ नहीं कर सकता। इन दोनों को प्रभु अपने आप मिल जाते हैं बिना किसी साधन के।

प्रश्न—ईश्वर में सदा के लिए मन कैसे लगे ?

उत्तर—ज्ञानपूर्वक देखो कि जिसमें मन लगा है, उसका स्वरूप क्या है ? असत्य के स्वरूप के ज्ञान का प्रभाव जीवन पर हो जाएगा, तब ईश्वर में मन लगेगा। मन बुरा नहीं है। कोई बुरा नहीं है। अपने दुःख-सुख का कारण किसी और को मत मानो। क्योंकि जगत् जड़ है, वह चिन्मय को दुःख दे नहीं सकता और प्रभु के पास दुःख है नहीं, देंगे कहाँ से, अतः सुख-दुःख का कारण कोई और नहीं है। सुख-दुःख आता है, मंगलमय विधान से। दुःख आता है, सुख का राग मिटाने के लिए, सुख आता है, उदार बनाने के लिए। सुख-दुःख दोनों ही साधन-सामग्री हैं।

1. संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत न हो। 2. संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन न रखो। 3. संकल्प-निवृत्ति में सन्तुष्ट न हो। 4. स्वाधीनता को ठुकरा दो। तब प्रभु-प्रेम प्राप्त कर सकते हो।

अतः- 1. ईश्वर के लिए ईश्वर को मानो। 2. उससे कुछ मत माँगो। 3. सारे विश्व को ईश्वर जानकर उसकी पूजा करो। 4. हर वस्तु को ईश्वर की मानो और उसके द्वारा पूजा करो। 5. प्रभु-विश्वास और प्रभु-प्रेम को ही अपना जीवन मानो। 6. प्रभु-प्रेम प्रभु से माँगो।

ईश्वर नहीं चाहिए। ईश्वर-विश्वास चाहिए, ईश्वर-प्रेम चाहिए। यही ईश्वरवादी की साधना है।

प्रश्न—श्रीमहाराज जी ! हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।

उत्तर—'शरीर' सदैव मृत्यु में रहता है और 'मैं' सदैव अमरत्व में रहता हूँ—यह मेरा परिचय है।

प्रश्न—श्रीमहाराज जी ! हम आपकी जीवनी लिखना चाहते हैं।

उत्तर—मेरी जीवनी है "दुःख का प्रभाव"-लिख लो।

प्रश्न—स्वामी जी महाराज ! यहाँ का प्रोग्राम पूरा करके आप कहाँ जाएँगे ?

उत्तर—गेंद को क्या पता है कि खिलाड़ी उसे किधर लुढ़काएगा ?

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।

सर्वहितकारी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

प्रार्थना

मेरे नाथ ! आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणासागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा, त्याग, प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ! ॐ आनन्द ! ! !

उपलब्ध साहित्य

1.	सन्त समागम भाग–1	15/-
2.	सन्त समागम भाग–2	7/-
3.	सन्त समागम भाग–3	7/-
4.	सन्त वाणी भाग–1 (सफलता की कुंजी)	10/-
5.	सन्त वाणी भाग–2	17/-
6.	सन्त वाणी भाग–3	8/-
7.	सन्त वाणी भाग–4	11/-
8.	सन्त वाणी भाग–5 (क)	6/-
9.	सन्त वाणी भाग–5 (ख)	6/-
10.	सन्त वाणी भाग–6	15/-
11.	सन्त वाणी भाग–7	15/-
12.	प्रश्नोत्तरी (संतवाणी)	10/-
13.	संत सौरभ (संतवाणी)	16/-
14.	संत उद्‌बोधन	18/-
15.	प्रेरणा पथ	18/-
16.	संत पत्रावली भाग–1	12/-
17.	संत पत्रावली भाग–2	15/-
18.	संत पत्रावली भाग–3	10/-
19.	जीवन दर्शन भाग–1	8/-
20.	जीवन दर्शन भाग–2	8/-
21.	चित्त शुद्धि भाग–1	15/-
22.	चित्त शुद्धि भाग–2	18/-
23.	जीवन पथ	9/-
24.	मानव की मांग	12/-
25.	मानव दर्शन	16/-
26.	मूक सत्संग और नित्य योग	17/-

27.	मानवता के मूल सिद्धान्त	9/-
28.	सत्संग और साधन	4/-
29.	साधन तत्त्व	7/-
30.	साधन त्रिवेणी	15/-
31.	दर्शन और नीति	9/-
32.	दु:ख का प्रभाव	10/-
33.	मंगलमय विधान	8/-
34.	जीवन विवेचन भाग–1 (क)	15/-
35.	जीवन विवेचन भाग–1 (ख)	15/-
36.	जीवन विवेचन भाग–2	20/-
37.	जीवन विवेचन भाग–3	20/-
38.	जीवन विवेचन भाग–4	20/-
39.	जीवन विवेचन भाग–5	20/-
40.	A Saint's call to Mankind	30/-
41.	Sadhna Spot Light by a Saint	25/-
43.	संत जीवन दर्पण	10/-
44.	मानव सेवा संघ का परिचय	10/-
45.	साधन निधि	6/-
46.	पाथेय भाग–1	8/-
47.	पाथेय भाग–2	7/-
48.	पथ प्रदीप	5/-
49.	प्रार्थना तथा पद	2/-
50.	मैं की खोज	4/-
51.	जीवन विवेचन भाग 6 (क)	20/-
52.	जीवन विवेचन भाग 6 (ख)	20/-
51.	जीवन विवेचन भाग 7 (क)	15/-
51.	जीवन विवेचन भाग 7 (ख)	20/-

मिलने का पता : मानव सेवा संघ वृन्दावन – 281121 (मथुरा)

फोन : (0565) 2442778

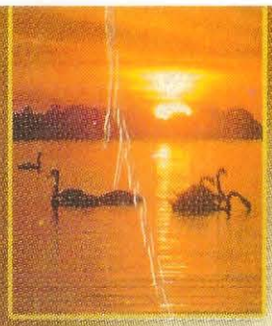

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना ।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना ।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर ।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण ।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना ।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता ।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना ।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार, विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन ।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेक वती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना ।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना ।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्जवल बनाना ।